

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_186122

UNIVERSAL
LIBRARY

O\$MANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No ^H 335.42 Acc. No ^{P.G} H 224^c
R19S

इज्जत
समाजवाद का इस्लाम

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

No. ¹⁴ 335.42 Accession No. P.G. H 2249
or R195

2-11-74 2-11-74

This book should be returned on or before the date
marked below.

OUP—68—11-1-68—2,000.

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. **H335.42**
R19S

Accession No. **PG**
H33.49

Author **इजन**

Title **समाजवाद की इस्वाह**

This book should be returned on or before the date
last marked below.

--	--	--	--

समाजवाद की रेखाएँ

लेखक

प्रोफेसर रंजन, एम० ए०

प्रकाशक

अन्तर्राष्ट्रीय प्रकाशन-मंडल

नयाटोला पटना ४

मूल्य १।।।)

विषय-सूची

विषय		पृष्ठ
१ हमारा आज का समाज	---	१
२ मार्क्सवाद	---	८
३ द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद	---	१३
४ इतिहास की आर्थिक व्याख्या	---	२४
५ वर्ग-संघर्ष	---	३०
६ पूँजीवाद की भूमिका	49... 42	३८
७ पैसा और पूँजी	50... 55	५३
८ समाजवाद की सीमाएँ	12/95	६८
९ समाजवाद का भारतीयकरण	---	८८
१० आगे कैसे ?	---	१०२
११ नासिक से पटना	---	१२१
१२ उपसंहार	---	१३२

— — —

लेखक की ओर से :—

‘समाजवाद’ पर काफी लिखा जा चुका है। हिन्दी में भी बहुत-सी अच्छी-अच्छी पुस्तकें इस विषय पर निकल चुकी हैं। इन सब रचनाओं के होते हुए इस पुस्तक की क्या आवश्यकता थी ? यह प्रश्न मेरे मन में भी आया। हिन्दी की प्रायः सभी पुस्तकें पढ़ने का अवसर मुझे मिला है। पढ़कर एक ही बात मन पर बैठी कि प्रत्येक पुस्तकों के लिखते समय लेखक अपने पाठकों की एक तस्वीर अपने सामने रख लेता है। खूब पढ़े-लिखे विद्वान व्यक्ति उसकी पुस्तक को पढ़ेंगे। ऐसी अवस्था में कभी-कभी दलीलों और तर्कों की भूल-भूलैयाओं में सिद्धान्त और तत्व ऐसे उलझ जाते हैं कि साधारण पाठक के लिये उन्हें खोज निकालना असम्भव हो जाता है। सब कुछ पढ़कर भी वह समझ नहीं पाता कि उसने क्या पढ़ा ? अभी तक ‘समाजवाद’ का विषय कालिज के विद्यार्थियों और अधिक पढ़े-लिखे लोगों की दिलचस्पी का ही विषय था। वह ज्ञान का साधन था। जीवन का नहीं। आज हिन्दुस्तान के जीवन में, यहाँ की भोपड़ियों में उसका प्रवेश हो रहा है, इसलिये भाषा और रचना के ख्याल से एक नये ढंग से उसे पाठकों के सामने रखने की आवश्यकता है जिसे ‘हिन्दी मिडिल पास’ व्यक्ति भी आसानी से समझ सकें। मैं स्वयं इस दिशा में कितना सफल हुआ हूँ यह मैं नहीं कह सकता। इसका निर्णय तो पाठक करेंगे। पर समाजवाद की सैद्धान्तिक चर्चा के साथ-साथ इस पुस्तक में समाजवादी प्रोग्राम और तत्व की

सीमा के भीतर आनेवाले उन तत्वों और कार्यों का वर्णन भी किया गया है जिनकी हम यहाँ बुनियाद डालना चाहते हैं। समाजवाद को हिन्दुस्तान के साथ इस पुस्तक में रखने की कोशिश की गई है। इसीलिये मैंने समय-समय पर समाजवाद पार्टी द्वारा प्रस्तावित योजनाओं और ठहरावों से काफी सहायता ली है। इस देश में नासिक-सम्मेलन के बाद समाजवाद का एक नया रूप निखरा है। इसकी उपेक्षा भी हम नहीं कर सकते। अतः साध्य और साधन के नये दृष्टिकोण को इस पुस्तक में रखना बहुत आवश्यक था। बिना उसके हम 'समाजवाद' की उस प्रगति को नहीं समझ सकते जो उसने हिन्दुस्तान में आते-आते की है।

भाषा को अधिक-से-अधिक आसान और सरल करने की आंश भी मेरा ध्यान रहा है। शुद्ध तात्विक विवेचनावाले अध्यायों को छोड़कर, भाषा को दुरुह होने से बचाया गया है। फिर भी पूरी सफलता मुझे इस दिशा में नहीं मिली है। पाठक सुभाव रखें तो दूसरे संस्करण में उन्हें सुधारने की कोशिश की जायगी।

रंजन

'वर्धा'

इस देश में समाजवाद को बल और प्रेरणा

देनेवाले

आचार्य नरेन्द्रदेव

के

चरणों में

हमारा आज का समाज

जहाँ हम आज खड़े हैं, वह एक दिन की प्रगति का नतीजा नहीं है। सदियों और युगों के संघर्ष और विकास के बाद आज हमारा समाज यहाँ पहुँचा है। यहाँ तक पहुँचने के लिये मानव को कितनी लम्बी यात्रा करनी पड़ी है। कितने पड़ाव और कितनी मंजिलों के बाद मानव यहाँ पहुँचा है। मंजिल की शुरुआत कब और कहाँ हुई, यह इतिहास का विषय है; फिर भी आज की हालत को अच्छी तरह समझने के लिये हमें अपनी यात्रा की पिछली मंजिलों को समझना पड़ेगा। जिस अनोखी हालत में हम आज समाज को देखते हैं वह समाज की विभिन्न अवस्थाओं के प्रभाव और प्रतिक्रिया का फल है। समाज के विकास का यही आखिरी मंजिल है या यात्रा का अन्तिम पड़ाव है, यह कहना भी गलत है। जिस प्रकार पिछली सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक हालत ने वर्तमान समाज का जन्म दिया, उसी प्रकार मौजूदा समाज व्यवस्था के भीतर से किसी नये समाज का जन्म होगा। विकास और परिवर्तन की यह अटूट परम्परा हमेशा चलती रहती है। प्रगतिशील ताकतों का बढ़ाव आगे को रहता है और मौजूदा ताकतें उन्हें हमेशा पीछे खींचने की कोशिश करती हैं। संघर्ष की यह क्रिया आन्दोलनों को, और आन्दोलन नये समाज को जन्म देते हैं।

हजारों वर्ष पहले की बात है, मनुष्य तब घरों में नहीं रहते थे। सड़कें नहीं थीं। कल-करखानों का सपना भी तब किसी ने नहीं देखा था। जंगलों में, पहाड़ की गुफा में मेहनत से थका इन्सान रात की गोद में सो जाता था। सुबह उठकर फिर पेट की फिक्र उसे

बेताब करती और वह शिकार के लिये निकल पड़ता । बड़ी मेहनत के बाद उसे पेट भरने लायक शिकार मिलता था । खूब परिश्रम करना पड़ता था, और सभी को । बेकार कोई न बैठता था । उस समय शरीर पर कपड़े न थे । लज्जा का बचाव पेड़ के पत्तों या छालों से हो जाता था । आखेट-युग (Hunting age) की यह विशेषता थी कि इन्सान के पास व्यक्तिगत पूँजी या निजी सम्पत्ति नाम की कोई चीज न थी । रोज शिकार करना, रोज खाना । कल की फिक्र से दूर उस समय का आदमी आज की बहुत-सी बुराइयों से दूर था । शिकार ही निर्बाह का मूल साधन था; इसलिये जंगल और पहाड़ का रहना ही उसे अच्छा लगता था, क्योंकि वहाँ शिकार आसानी से मिलता था । जिन्दगी का यह दौर हजारों वर्ष तक चलता रहा होगा । पर एक दिन इस रहन-सहन की व्यवस्था में भी परिवर्तन के अंकुर दीख पड़े । हालत बदलने लगी । जिन्दगी के तरीके में तबदीली हुई ।

‘कल’ की चिन्ता ने सोचने की दिशा को बदल दिया । ‘रोज खाना, रोज कमाना’ ऐसा सोचनेवाला मनुष्य जानवरों को पालने की बात सोचने लगा । ‘कल’ की तैयारी या चिन्ता की यह पहिली सीढ़ी थी । उसने देखा, ऐसा करने से उसके पास कल का इन्तजाम रहेगा । उसके अपनेपन के दायरे में भी कुछ तरक्की हुई । पालतू पशुओं के साथ उसने अपनेपन का अनुभव किया । इसमें उसका स्वार्थ प्रधान कारण था । पशु-पालन से उसे दूध मिल सकता था । ऊन से शरीर ढँक लेता था और साथ-ही-साथ शिकार के अभाव में कभी उन्हें मारकर पेट भी भर लेता था । इस रहन-सहन के युग को इतिहास ने ‘चारागाह-युग’ (Pastoral age) का नाम दिया है ।

पर यहाँ आकर विकास की गाड़ी रुक नहीं गई। मानव ने अपनी नई हालत के बीच से फिर नई जिन्दगी की शकल को गढ़ना शुरू किया। विचार और बुद्धि की क्रिया भी बराबर जारी रही। वर्तमान से संतुष्ट न रहने की प्रवृत्ति ने उसे हमेशा आगे बढ़ते रहने को उत्साहित किया। जैसे-जैसे वह आगे बढ़ा उसके रहने में भी अन्तर पड़ता गया। जीवन की आवश्यकताएँ बदलती गईं। शिकार-संतोषी मानव की जरूरतें आज काफी आगे बढ़ गई थीं। पशु-पालन के बाद पशु-उपयोग के नये प्रयोगों ने उसे खेती की ओर झुकाया। उसका कदम कृषि-युग की ओर उठा। खेती ने उसे एक स्थान पर रहने को मजबूर किया। अब वह खानाबदोश न रहा। एक स्थान पर बँध गया। हमेशा घूमते रहने की आदत में व्यवधान पड़ा। गाँवों या झुंडों में रहने की बात उसे अब भाने लगी। सामूहिक प्रवृत्ति में और अधिक विकास हुआ। समाज के प्रथम रूप के दर्शन यहीं पर हुये। खेती में एक खास तरह की मेहनत की जरूरत थी। लोग अपने-अपने खेतों को जोतते और उससे अन्न उत्पन्न करते थे। यह अन्न उनके जीवन का दूसरा साधन बना। पहला साधन—शिकार—पीछे पड़ गया था।

जमीन के इस्तेमाल ने जंगली मानव को पहली बार सामाजिक प्राणी का रूप दिया। खेतों के आस-पास घर बने। स्थायी निवास की बुनियाद पड़ी। स्वतंत्र खेती का यह रिवाज आगे चलकर सामंतशाही (Feudal system) में बदला। जमीन पहले किसी को नहीं मानी जाती थी। उसे जोतनेवाला उसका मालिक होता था। बाद में यही जमीन राजा की हो गई और राजा अपनी सेवा के बदले इस जमीन को अपने सामंतों के नाम कर दिया करता था।

और, सामंत दासों या बन्धकों को यह जमीन जोतने के लिये दे देते थे। इस युग में सामंत शक्ति का आधार माना जाता था और राजा से भी अधिक प्रधानता इन लोगों की थी। पर सामंतशाही की अपनी बुराइयाँ भी थीं। इसलिये इसकी उन्नति के साथ इसके विनाश के कारण भी बढ़ते गये। समय की गति के साथ यह आगे न बढ़ सका। इसलिये धीरे-धीरे इसका हास होने लगा। खासकर फ्राँस की राज्य-क्रान्ति और व्यवसायिक क्रान्ति (Industrial revolution) ने तो सामंतशाही का खात्मा ही कर दिया। और, इसी की राख के ऊपर वर्तमान 'पूँजीवाद' के महल की नाँव पड़ी। पूँजीवादी समाज का एक दिन में विकास नहीं हो गया। इसके बीज सामनवादी युग में ही बोये जा चुके थे। एर इन दो क्रान्तियों ने इन अकुरों को सींचकर और मजबूत कर दिया।

इस प्रकार मानव-समाज बहुत-सी सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक अवस्थाओं के बीच से गुजर चुका है। ये अवस्थाएँ एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न थीं। यह परिवर्तन न तो बनावटी है और न आकस्मिक ही। वरन स्वाभाविक और संगत क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं के बीच से हमेशा समाज आगे बढ़ा है। और, आज भी अधिकारपूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि हमारी मौजूदा रहन-सहन ही सभ्यता की मंजिल है। वर्तमान असंतोष के भीतर से एक नई प्रणाली का जन्म होगा और इस जिन्दगी के नये तौर-तरीकों को जन्म देनेवाली ताकतें अपना काम करने लग गई हैं। ये शक्तियाँ पूँजीवादी प्रथा की जड़ों को आज खोखला करने लगी हैं।

आज सभ्यता का जितना अधिक विकास हो चुका है, उतने ही गहरे असंतोष की जड़ भी जम चुकी है। एक ओर भाराम, विनोद,

ऐशोइशरत के साधनों का जमवट है, दूसरी ओर अभाव, गरीबी और दुःख की दुनिया मुँह बाये चीख रही है। विज्ञान ने भौतिक सुविधाओं का आडम्बर तो हमारे सामने खड़ा कर दिया है, परन्तु जनता के अधिकांश भाग को उसने तड़प-तड़पकर मरने के लिए मजबूर कर दिया। इसीलिये सारे संसार में एक जबरदस्त संघर्ष चल रहा है। एक ओर किसान और जमींदारों के स्वार्थ आपस में टकरा रहे हैं, दूसरी ओर मजदूर और मिल-मालिकों के हितों की टक्कर है। और, इसका कारण है व्यक्तिगत पूँजी के प्रति आग्रह और सामाजिक दृष्टिकोण का अभाव। इसलिये कहा जा सकता है कि आज की दुनिया का सबसे बड़ा सवाल है कि उपज या उत्पादन के जितने साधन या रास्ते हैं उनका असली मालिक कौन है ? और किसे, कहाँ तक उनसे लाभ या श्रम वसूल करने का अधिकार है ? आज हालत यह हो गई है कि धन और पूँजी के बल पर कुछ लोगों ने पैदावार के सारे साधनों पर अधिकार कर लिया है और ये लोग बिना श्रम या मेहनत के दूसरों की मेहनत के बल पर अरबों की दौलत पैदा करते हैं और उसके लाभ के मालिक बनते हैं। यही स्थिति आज संघर्ष और विस्फोट का कारण बन गई है। एक तरफ से आवाज आती है—हमने पैसा लगाया है, इसलिए प्राप्त-लाभ के हम अधिकारी हैं और मजदूरों से काम लेने का हमें पूरा हक है। दूसरी ओर से आवाज उठती है कि श्रम या मेहनत हमारी लगी है, अतः उपज या उत्पादन के लाभ में हमारा भी उचित भाग होना चाहिये। इन दो प्रकार की विचारधाराओं को लेकर आज का संघर्ष चल रहा है।

पर असंतोष और संघर्ष की बात केवल आर्थिक सीमा के भीतर ही खरम नहीं होती। हमारे समाज के और भी ऐसे पहलू हैं जिनमें

से संतुलन और न्याय का अभाव है। योग्यता और मनुष्यता की उपेक्षा की जाती है, योग्य और ईमानदार आदमी पीछे रह जाता है और मक्कार तथा धूर्त जिन्दगी की दौड़ में बहुत आगे बढ़ जाता है। ऊँच-नीच की भावना अभी स्वभाव से अलग नहीं हुई है। सामाजिक-स्तर में समता और प्रेम के स्थान पर विषमता और घृणा दिखाई देगी। संगठन और मेल की जगह पर फूट और कलह नजर आयेगी। राजनीति में भी बुद्धि और जाति की प्रधानता मानूँ पड़ती है। लोकशाही के नाम पर कुछ बुद्धिजीवी और धनी लोग शासन-सूत्र चलाते हैं। देश की अधिकांश जनता अपने अज्ञान के कारण इसमें दिलचस्पी नहीं रखती। नतीजा यह होता है कि कुछ तेज तथा चालाक लोग चुनाव के नाम पर आगे बढ़कर सत्ता को हथिया लेते हैं और देश के सच्चे मालिक उससे दूर रह जाते हैं। किसान, मजदूर और निम्न मध्य-वर्ग जो राष्ट्र का प्राण हैं, अधिकार से दूर सिर्फ चिन्ता और परेशानी के जाल में फँसा रहता है।

इस प्रकार की स्थिति के प्रति गहरे असंतोष के लक्षण प्रकट होने लगे हैं। पूँजीवादी व्यवस्था ने दुनिया को गरीबी से जकड़ रखा है। बहुत-से लोगों की बाँट में गरीबी और चन्द लोगों के हिस्से में वैभव, धन और सुख पड़ा है। इस अत्यन्त निर्वनता और अति संपन्नता में गहरा सम्बन्ध है। भूख, बेकारी और जुल्म इस व्यवस्था के अभिशाप हैं। समाज में मंगल और सुख कम, अमंगल और दुःख अधिक। ऐसी दशा में मौजूदा व्यवस्था की हम कब तक रक्षा कर सकते हैं? सभी आज यह मानते और अनुभव करते हैं कि जब तक मौजूदा समाज के ढाँचे में क्रान्तिकारी परिवर्तन नहीं होगा तब तक केवल 'ओवरहॉल' या पैवंदी से हालत सधर नहीं

सकती। दुनिया के राजनीतिज्ञों ने विचार किया, दार्शनिकों ने स्थिति-मंथन किया और विचारकों ने निदान में वर्षों खर्च किया ? बहुत मेहनत और परीक्षण के बाद हमारे सामाजिक डाक्टर, वैद्य, और हकीम रोग का निदान कर सके हैं। सबने एक मत से स्वीकार कर लिया है कि इस भयंकर सामाजिक रोग का एक ही कारण है—‘पूँजीवाद’ और एकमात्र उपाय या दवा है—‘समाजवाद’। ऐसा समाजवाद जिसकी बुनियाद जनता की राय और लोकशाही में हो। (Democratic Socialism) जनतन्त्रात्मक-समाजवाद यानी जहाँ सत्ता और विधान-निर्माण सचमुच श्रमिक और उत्पादक वर्ग के हाथ में हो। जनता के नाम पर हुकूमत करनेवाला धनी और शिक्षित वर्ग जहाँ अलग न रहे। जहाँ पेशे और काम के आधार पर बालिग मताधिकार कायम किया जाय। राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक समता की भित्ति पर अवलम्बित इस प्रकार का ‘समाजवाद’ ही आज की बुराई और रोग को दूर कर सकता है।

अतः रोग और उसकी दवा दोनों को ठीक-ठीक समझने के लिये ‘पूँजीवाद’ के इतिहास और उसके कारणों को भी समझना पड़ेगा। इसके बाद अमल और व्यवहार के तराजू पर रखकर देश-काल के अनुसार ‘समाजवाद’ का परीक्षण या जाँच भी करनी पड़ेगी। इस पुस्तक के अगले पृष्ठों में इन्हीं दो पक्षों पर विचार किया जायगा।

माक्सवाद

१९वीं शताब्दी की बात है। यूरोप आर्थिक पीड़ा से कराह रहा था। इस कराहने की आवाज ने बहुत-से दार्शनिक और विचारकों को इस पीड़ा के कारणों को खोजने के लिये मजबूर किया। लोगों के पास अरबों की सम्पत्ति है। पहले से अधिक अनाज और कपड़ा तैयार होता है। फिर यह अभाव और संकट क्यों? यह विषमता क्यों? इस सवाल का उत्तर अलग-अलग लोगों ने तरह-तरह से दिया। ईश्वरवाद और अध्यात्मवाद का युग था ही। बहुत-से उसे ईश्वरीय प्रकोप कह अलग बैठ गये। बहुतों ने पीड़ितों के पूर्व कर्मों पर जिम्मेवारी डाल संतोष की साँस ली। कुछ भाग्यवाद की रेखाएँ ही खींचते रह गये। पर सभी विचारकों को इन उत्तरों से संतोष न हुआ। इन कुछ लोगों में जर्मनी का एक विचारक माक्स भी था। माक्स के पूर्व या समकालीन लासेल, वट्स, अदम स्मिथ के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। पर इनका निदान और उपचार माक्स से भिन्न था। इनके बताये रास्ते में मानव-कल्याण की भावना तो थी पर वह कल्याण लोगों की कृपा और दया-बुद्धि पर ही आश्रित था, इसलिये उनका विश्लेषण तर्क-सिद्ध भी नहीं था और न उसे वैज्ञानिक ही कहा जा सकता था। वैज्ञानिक तरीके से भूत, वर्तमान और भविष्य का विश्लेषण कर सम्यक् प्रबंध के रूप में जनता के सामने अपने विचार रखनेवाला प्रथम व्यक्ति माक्स था। माक्स के समाज और प्राणी के विषय में अपने मौलिक विचार थे। इसलिये उसके विचार-परम्परा का नाम ही 'माक्सवाद' पड़ गया है। इनके

सारे ग्रन्थ तर्क और विवेक की कसौटी पर खरे उतरते हैं। इनकी रचनाओं में जिस आदर्श जगत (Ideal world) का ताना-बाना तैयार किया गया है, उसमें व्यवहार और सच्चाई के धागे लगे हैं। अपनी पुस्तक 'केप्टल' में उन्होंने विस्तारपूर्वक समाज की आदि अवस्था से लेकर आज तक के आर्थिक और सामाजिक विकास के मूल तत्त्वों को खोज निकाला है। इन्होंने इतिहास के तथ्यों की आर्थिक विवेचना की है। समाज का ऐसा विकास क्यों हुआ और आगे क्या सम्भव है, ऐसा कहते हुये उन्होंने सभी कारणों के दर्शन की मौलिक व्याख्या की है। मार्क्स के विचार-मंथन और तर्क-सिद्ध दर्शन के भीतर से ही वैज्ञानिक 'समाजवाद' अंकुरित हुआ है। मार्क्स के इस दर्शन ने दुनिया के बहुत-से देशों को प्रभावित किया है। आज किसी-न-किसी रूप में समाजवाद कुछ देशों में अपनाया जा चुका है। कुछ इस लक्ष्य के लिये संघर्ष कर रहे हैं। इस वैज्ञानिक समाजवाद की मार्क्स के बाद बड़े अजीब तरीके की व्याख्यायें हुई हैं। लेनिन और स्टेलिन दोनों के 'समाजवाद' का रूप एक दूसरे से भिन्न था।

मार्क्सवाद जीवन के प्रति, समाज के प्रति, एक विशेष दृष्टिकोण का नाम है। मानव-जीवन के सभी पक्षों को आर्थिक और सामाजिक तराजू पर रखकर उनका सूक्ष्म विश्लेषण करने का पहला साहस मार्क्स ने किया। इस विशेष दृष्टिकोण में नैतिकता का पूरा स्थान होते हुये भी काल्पनिक विश्वास और अंध श्रद्धा के लिये कोई गुंजाइश नहीं है। समाज के दुःख-दर्द के लिये बहुत अंशों में मौजूदा वास्तव-परिस्थितियाँ (objective conditions) ही जिम्मेवार होती हैं। समाज की आर्थिक-रचना का मानव के पतन और उन्नति में विशेष हाथ रहता है।

आज जो असंतोष, दुःख-दद हमें दिखलाई देता है उसका कारण पूँजीवाद का विकास और तद्जन्य आर्थिक विषमता है। अतः समाज और मानव को उन्नत करने के लिये पहले उन कारणों को खोजना होगा जो आज की सामूहिक-पीड़ा के लिये जिम्मेवार हैं— यानी रोग का निदान (Diagnosis)। इस निदान को हम पूँजीवाद का नाम दे सकते हैं। अर्थात् आज समाज के शरीर में जो घुन लग गया है उसका नाम पूँजीवाद है। कुशल डाक्टर जिस प्रकार रोगी को ठीक करने के लिये पहले उन ज्ञात और अज्ञात कारणों को खोजता है, जिससे रोग पैदा हुआ है और फिर उपचार करता है। सामाजिक रोग के कुशल डाक्टर मार्क्स ने पहले समाज की प्रचलित बुराइयों का निदान किया। इसके बाद वे रोग के उपचार की ओर बढ़े। वर्षों के परिश्रम और मनन के बाद उन्होंने 'समाजवाद' रूपी दवा को जनता के सामने रखा। 'समाजवाद' वर्तमान समाज में प्रचलित बुराइयों, दुःखों और आर्थिक रोगों को दूर करने का एक रास्ता है, लक्ष्य है। पूँजीवाद रोग का कारण है और समाजवाद उसका निराकरण। इसलिये संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि मार्क्सवाद समाज के संपूर्ण जीवन से सम्बन्ध रखता है। भूत और वर्तमान में नश्वर लगाकर मार्क्स ने 'पूँजीवादी' फोड़ों को निकाला और फिर भविष्य के उन्नत और सुनहले समाज के सपनों की नींव 'समाजवाद' पर रखने की घोषणा की। मार्क्सवादी दर्शन के पूँजीवाद और समाजवाद दो पक्ष हैं। एक निदान, दूसरा उपचार।

मार्क्सवाद के विषय में एक बात बतलाना और जरूरी है। मार्क्स ने काल, स्थान और वस्तु-स्थिति (objective conditions) को मानव का सबसे बड़ा निर्माता माना है। बहुत-से लोग मार्क्स को

रुढ़िवादी मानते हैं, पर ऐसा नहीं है। मार्क्स ने तो आरम्भ में ही यह स्पष्ट कर दिया है कि स्थिति के अनुरूप वस्तु-परीक्षण और वस्तु-परीक्षण के अनुसार परिणाम भिन्न हो सकता है। समाज विकास-शील है। अतः, जो बात आज ठीक है, वह सर्वदा उसी अंश में ठीक रहेगी, ऐसा कहना विज्ञान को गलत समझना है। और इसलिये मार्क्स ने 'समाजवाद' की जो भूमिका आज से १०० वर्ष पहिले तैयार की थी, उसको अक्षरशः उसी रूप में प्रत्येक देश में फिट करना ठीक नहीं होगा। प्रत्येक देश की वाह्य-स्थितियाँ किस हद तक उसके अनुकूल हैं यह देखना आवश्यक है। और न मार्क्स का यही कहना था कि 'समाजवाद' की प्रतिष्ठा के लिये रक्त और बल प्रयोग अनिवार्य है। अगर कोई देश जनतंत्र के सिद्धान्तों में विश्वास रखता है, तो वहाँ जनता का निर्णय ही सच्चे समाजवाद की ईंट रख सकता है। जिन लोगों ने मार्क्स के बिखरे विचारों को कहीं देख लिया है वे उसकी गलत व्याख्या करके लोगों को भ्रम में डालते हैं। हाँ, समाजवाद के बुनियादी उसूल और उसकी 'आत्मा' एक-सी है, पर उसे शरीर अलग-अलग दिये जा सकते हैं।

मार्क्स ने अपने संपूर्ण दर्शन के छः प्रधान अंग माने हैं। इन्हीं के ऊपर उसका दर्शन टिका है। इनमें चार अतीत और वर्तमान के विश्लेषण से संबंध रखते हैं और अन्तिम दो में उसने अपने आदर्श जगत की भूमिका बाँधी है।

(१) द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (Dialectical Materialism)

(२) इतिहास की आर्थिक व्याख्या (Economic Interpretation of History)

(३) वर्ग-संघर्ष (Class-Struggle)

(४) अतिरिक्त मूल्य या अतिरिक्त लाभ—मजदूर जितने में अपनी मेहनत बेचता है उससे बहुत कमाकर वह मालिक को देता है ।

(५) अतिरिक्त-लाभ को सदा बढ़ाते रहने की पूँजीपति की प्यास जो मजदूरों की दरिद्रता को भी साथ-साथ बढ़ाती जाती है । इससे दीनता और दरिद्रता व्यापक रूप से समाज में फैल जाते हैं ।

(६) विषमता का चरम सीमा पर पहुँचना । उत्पादक-साधनों का कम-से-कम लोगों के हाथ में केंद्रित होना और इसके बाद असंख्य शोषित और पीड़ित जनता द्वारा क्रान्ति (यह क्रान्ति सशस्त्र और वैधानिक—दोनों प्रकार की—देश की अवस्था के अनुसार हो सकती है) ।

— — —

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद

माक्सवादी विचारधारा को ठीक-ठीक समझने के लिये समाजवादी दर्शनशास्त्र पर भी विचार करना आवश्यक हो जाता है। पूर्वीय देशों में दर्शनशास्त्र का उद्देश्य 'ईश्वर प्राप्ति या मोक्ष' रहा है। मृत्यु के बाद जीव का क्या होता है, वह कहाँ जाता है, किस तरह जाता है ? इस उहा-पोह में ही बहुत-से भारतीय-दार्शनिकों ने अपना जीवन खपा दिया। पश्चिम के दर्शनशास्त्री विश्व-रहस्य की भूल-भुलैयाँ को सुलझाने में लगे रहे। संसार ऐसा क्यों बना, किसने बनाया, कैसे बना ? आदि प्रश्नों की मीमांसा में पश्चिम ने ग्रन्थ-के-ग्रन्थ रंग डाले। परन्तु माक्स का समाजवादी दर्शन इन दोनों दर्शनों (Philosophies) से भिन्न है। इसका उद्देश्य न तो मोक्ष या ईश्वर प्राप्ति है, और न रहस्योद्घाटन ही। माक्सवादी दर्शन इस संसार की पहेली को समझने की इसलिये कोशिश करता है कि वह उसकी असली जानकारी हासिल करने के बाद उसे और अधिक अच्छा बना सके। इस दृष्टि से समाजवादी दर्शन का उद्देश्य केवल 'स्व' या आत्मतुष्टि मात्र नहीं है, वरन् वह मानव या सामूहिक-कल्याण की भावना से ओतप्रोत है। इसलिए भावुक दार्शनिकों को लक्ष्य करके माक्स ने कहा है—“Philosophers hitherto have interpreted the world in various ways; the task is to change it”. अर्थात् दार्शनिकों ने आज तक मनमाने तरीके से दुनिया की व्याख्या की है, परन्तु आज मुख्य सवाल उसको बदलने का है। यह है समाजवादी-दर्शन का प्राण और उद्देश्य।

हमें यह भली प्रकार समझ लेना चाहिए कि समाजवाद केवल एक राजनीतिक वाद या आर्थिक सिद्धांतों की समष्टि का नाम नहीं है—वह जीवन का सम्पूर्ण दर्शन है। मानव सभ्यता के इतिहास में आज तक जो कुछ हुआ है, उन सबके वैज्ञानिक, नैतिक, दार्शनिक, ऐतिहासिक और राजनीतिक तथ्यों को अच्छी तरह छान-बीनकर शुद्ध विवेक और तर्क के आधार पर उसकी परीक्षा करके, फिर वास्तविकता (Reality) के साथ उसका सामंजस्य करके ही इसके प्रत्येक सिद्धांत का निरूपण किया गया है। यह दर्शन मनुष्य के सामने कोई काल्पनिक और रंगीन आदर्श नहीं रखता।

मार्क्स के जीवन और समाज के प्रति इस दर्शन को द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (Dialectical Materialism) के नाम से धुकारा जाता है। स्पष्ट और विस्तार से समझने के लिए हम इसके दर्शन को दो भागों में रख सकते हैं। जैसा दिखलाई पड़ता है, यह दर्शन दो शब्दों के मेल से बना है। दोनों अपने-अपने अलग अर्थ रखते हैं। पहला शब्द Dialectical या द्वन्द्वात्मक किस अर्थ में मार्क्स द्वारा व्यवहृत हुआ है और भौतिकवाद (Materialism) को क्यों इसके साथ जोड़ा गया है? इन दोनों को फिर किस प्रकार एक सूत्र में पिरोकर एक नवीन दर्शन की अभिव्यक्ति हुई है? पहले हम 'द्वन्द्वात्मक' शब्द को लेते हैं।

द्वन्द्वात्मक शब्द अंग्रेजी के Dialectical का समअर्थ है। यह एक यूनानी शब्द, डायलेक्ट से निकला है, जिसका अर्थ है बातचीत या वाद-विवाद करने की कला। यूनानवालों का विश्वास था कि सत्य का निश्चय करने के लिए विरोधी-विचारों का संघर्ष ही सबसे श्रेष्ठ तरीका है—बशर्ते कि दोनों पक्षों का उद्देश्य सत्य निरूपण हो,

केवल विवाद नहीं । इसलिये 'द्वन्द्व' शब्द यहाँ विचार-संघर्ष के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । एक ही विषय पर दो विरोधी-विचारों का संघर्ष ही सत्य को खोजने का कारण है । इस संघर्ष से ऐसा परिणाम निकलता है जो दोनों को मान्य होता है ।

हेगल और मार्क्स दोनों का विश्वास है कि सत्य और उन्नति विरोधी तत्वों या प्रवृत्तियों के संघर्ष से ही अनुभूत होते हैं । मार्क्स के इस शब्द के प्रयोग में विशेषता यह थी कि उन्होंने इस सिद्धान्त का केवल विचारों में ही लागू होना नहीं माना, परन्तु उन्होंने इसे प्रगतिशील ऐतिहासिक आन्दोलनों में भी प्रयुक्त किया है । इस प्रकार द्वन्द्वात्मक संघर्ष के द्वारा उन्नत होने का नियम विचार और घटनाओं दोनों में प्रयुक्त होता है ।

कार्ल मार्क्स से पूर्व हेगल के दार्शनिक विचारों का यूरोप पर विशेष प्रभाव पड़ा था । हेगल के पूर्व प्रायः सभी दार्शनिक आदर्श और जड़वादी विश्व को स्थितिशील (न बदलनेवाला) मानते थे । और ऐसा ही मानकर उन्होंने उसका विश्लेषण किया था । परन्तु, पहली बार हेगल ने इस धारणा का प्रतिवाद करके विश्व के परिवर्तनशील होने की धोषण की । हेगल के विचार से यह जगत् हमेशा बदलते हुये चल रहा है । इसमें किसी वस्तु को स्थिर समझना बड़ी भूल है । उसके (हेगल) विचार से दृश्यमान जगत् एक साथ ही सत्य और मिथ्या है । निरपेक्ष भाव की तुलना में यह जगत् मिथ्या है । और भाव के प्रकाश-रूप में यह सत्य है । दृश्यमान जगत् के अन्तराल में जो सार सत्य है वह अवश्य ही ईश्वर के भाव-रूप में वस्तुमान हैं । किन्तु, यह सत्य क्रम-प्रकाश्य है । यह जड़ जगत् जो हमें दृश्यमान होता है, वह हमारे भावों की ही अभिव्यक्ति है और

यह भाव ही सार सत्य है। जिसे हम जड़ जगत् कहते हैं, वह सार-सत्य नहीं, गौण है। हेगल को विश्वास था कि वस्तु में विचार का ही प्रतिबिम्ब मात्र है। इसलिये विचारों का संसार ही सच्चा संसार है। सृष्टि के मूल में भाव-रूप में जो सार-सत्य है उसके क्रम-विकास की धारा का हेगल ने प्रतिपादन किया है कि जब हम किसी सत्य का आविष्कार करते हैं, तो उसी समय उसके विपरीत सत्य का संधान भी हमें मिलता है। ये दोनों सत्य एक दूसरे के विरोधी होते हैं। पर जैसे-ही-जैसे हमारा ज्ञान बढ़ता जाता है, हम इस निश्चय पर पहुँचते हैं कि ये दोनों परस्पर-विरोधी सत्य एक ही बड़े महासत्य के दो पहलू हैं। यह नव-प्राप्त सत्य ही हमें ज्ञान के मार्ग पर आगे बढ़ाता है और फिर इन दो विरोधी सत्यों के समन्वय से एक और नवीन सत्य हमारे सामने आता है। यही हेगल की विरोध-समन्वय मूलक (Dialectic method) पद्धति है। भावात्मक और अभावात्मक (Thesis और Antithesis) इन दोनों के संधान के फल से सामंजस्य या समन्वय की सृष्टि होती है। इन तीन अंशों (भावात्मक, अभावात्मक और समन्वय) को लेकर ही द्वान्द्वात्मक पद्धति का जन्म होता है।

मार्क्स ने हेगल की विरोध-समन्वय मूलक पद्धति को तो स्वीकार किया, परन्तु उसके आदर्श को नहीं माना है। हेगल के इस आदर्श-वाद की अलोचना करते हुए मार्क्स लिखता है कि “यदि इस आदर्शवाद को व्यावहारिक रूप देने की चेष्टा की जाय तो इसके यही माने हो सकते हैं कि ज्ञान के लिये ही जगत् का अस्तित्व है। विचार की अपेक्षा जीवन गौण है। भावों द्वारा ही हमें भोजन, कपड़ा और घर मिल सकते हैं। विचार द्वारा ही कार्य सम्पन्न होता है।

हमारे जीवन की वास्तविकता विचार करने और कल्पना करने में है, कार्य करने में स्थूल वस्तुओं के साथ संग्राम करके उन्हें अपनी आवश्यकतानुसार रूप देने में नहीं ।”

मार्क्स के विचार से मनुष्य में मानवता तथा मानवीय गुणों का जो विकास हुआ है, वह विचार-क्रिया का नतीजा नहीं है। समाज में रहकर मनुष्य अपने जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये जो उद्योग करता है, उससे उसकी कार्य-क्षमता बढ़ती है और उसकी यह क्षमता-वृद्धि उसके बराबर काम करते रहने की आदत का नतीजा है—भावों के विकास का नहीं। मनुष्य ने अपने रोटी, कपड़े और रहने की जरूरतों को पूरा करने की जो कोशिशें की हैं और इनमें उसे जो सफलता मिली है, उसीका नाम प्रगति है। इस प्रयत्न के साथ-ही-साथ ज्ञान का विकास हुआ और फिर ज्ञान से मानवीय गुणों का विकास संभव हुआ।

मार्क्स ने जब द्वन्द्ववाक्य भौतिकवाद का सिद्धान्त स्वीकार किया, उस समय उसने प्राचीन आदर्शवादी एवं जड़वादी दोनों में से किसी भी मत को संपूर्ण रूप से ग्रहण नहीं किया। इस विषय में उसके अपने विचार हैं—“आज का जगत् असामंजस्य और अनैक्य से पूर्ण होने पर भी चलमान और परिवर्तनशील है। और, यह परिवर्तन असुन्दर से सुन्दर, अस्पष्ट से स्पष्ट, असामंजस्य से सामंजस्य, अचेतन से चेतन और असत्य से सत्य की ओर हो रहा है। लेकिन यह परिवर्तन अपने आप नहीं होता। इसके पीछे एक उद्देश्य और योजना रहती है। स्वयं मनुष्य का दिमाग इस परिवर्तन का कारण है। मनुष्य ने जगत् को बदला है, और जगत् का एक अंग होने के नाते, वह जगत् के साथ-साथ अपने को भी बदलता रहता है। यह दृश्यमान जगत्

परिवर्त्तनशील है, अतएव सत्य भी इस परिवर्त्तन के बीच से होकर परिवर्त्तन के साथ-साथ प्रकाशित होता रहता है। और इसी परिवर्त्तन के कारण जो कल सत्य और प्रकृत था, आज गलत लगने लगता है (पृथ्वी घूमती है या सूर्य, इसपर वैज्ञानिकों ने पहले जो मत दिये थे वे आज से सर्वदा भिन्न थे)। इसी तरह जो बात आज ठीक और स्वभाविक है, वह भविष्य में नये सत्य के साथ मिलकर मलिन हो जायगी और यह नूतन फिर नये सत्य की खोज करेगा। ”

इस परिवर्त्तन की सूचना हमें द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद देता है और यह बताता है कि यह परिवर्त्तन किस तरह होता है। इस परिवर्त्तन का क्रम या नियम क्या है ? इन्हीं सब बातों का उत्तर हमें द्वन्द्वात्मक प्रणाली में मिलता है। इसे द्वन्द्वात्मक इसलिये कहते हैं कि इस दर्शन के मत से किसी भी वस्तु के परिवर्त्तन के मूल में उसका अन्तर्गत विरोध काम करता है। किसी भी चीज, संस्था या व्यवस्था प्रणाली के अन्तर्गत जो विरोध होता है, वह विरोध ही उसके परिवर्त्तन का कारण बनता है। यही अन्तर्विरोध एक समाज व्यवस्था को बदल कर उसके स्थान पर श्रेष्ठतर और अच्छी व्यवस्था की नींव डालता है। अन्तर्विरोध के कारण ही परिवर्त्तन होता है—इस प्रकार सोचने का जो तरीका है उसे ही द्वन्द्वात्मक (Dialectical) कहते हैं।

अब हमें द्वन्द्वात्मक पद्धति के विभिन्न अंगों पर विचार करना चाहिये। किसी वस्तु या संस्था में किस क्रम से परिवर्त्तन होता है और उसके अन्दर विरोध के बीज कैसे पड़ते हैं आदि प्रश्नों को समझना जरूरी है।

(१) संसार की हर एक चीज बदल रही है। यह परिवर्तन जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में हो रहा है। कहीं मन्द, कहीं तेज।

(२) इस परिवर्तन का मूल स्वयं वस्तु या संस्था के भीतर ही छिपा है। यह परिवर्तन वस्तु के अन्तर्गत निहित परस्पर विरोधी शक्तियों के संघर्ष का फल है।

(३) विवर्तन-प्रणाली का सब क्षेत्रों में एक विशेष रूप होता है। पहले वस्तु विशेष की उत्पत्ति, फिर उसकी विरोधी शक्ति के साथ उसका संघर्ष और अन्त में परस्पर विरोधी दो शक्तियों का समन्वय और इस समन्वय से फिर नवीन परिवर्तन का आरंभ।

(४) संधान के नियम के अनुसार एक ही समय पर परस्पर विरोधी वस्तुओं या शक्तियों का अवस्थान और एक का दूसरे में अनु-प्रवेश होना संभव हो सकता है। पर अन्त में यह सम्मिलित अवस्थान कायम नहीं रह सकता। इसलिये विरोध ही क्रम-विकास के मार्ग में सामंजस्य तक पहुँचने का उपाय है। श्रेणी-संघर्ष द्वारा श्रेणी-भेद के अन्त की धारणा है, वह इस नियम के अनुसार ही है।

(५) परिवर्तन या प्रगति की धारा वृत्ताकार या सरल रेखा के रूप में नहीं ह्रांती, आवर्त के समान इसका रूप होना स्वभाविक है। हम पग-पग पर प्रगति-सोपान पर चढ़ते हुये बढ़ रहे हैं—यह सत्य नहीं है। जहाँ से परिवर्तन का सूत्रपात होता है, परिणाम में समन्वय के समय हम ठाँक उसी स्थान से लौट नहीं आते।

(६) विवर्तन का वेग सब समय समान नहीं होता। कभी वह द्रुतगति से और कभी मन्दगति के रूप में होता है। क्रम-विकास का रूप अविच्छिन्न स्रोत के समान नहीं होता।

उपरोक्त पंक्तियों में हमने मार्क्स के द्वन्द्ववात्मक दर्शन की समीक्षा की है। लेकिन, यह तो उसके संपूर्ण दर्शन का आधा सत्य है। बिना भौतिकवाद (Materialism) की व्याख्या किये मार्क्स का दर्शन स्पष्ट नहीं होगा। अतः यहाँ यह आवश्यक है कि मार्क्स द्वारा प्रतिपादित “भौतिकवाद” पर भी थोड़ा विचार कर लें। कार्ल मार्क्स स्वयं अनीश्वरवादी थे। उनके विचार से सृष्टि का कर्त्ता ईश्वर नहीं है। मार्क्स के विचार से इस दृश्यमान जगत् की उत्पत्ति अचेतन प्रकृति (nature) से हुई है।

(१) मार्क्स के पूर्व जड़वादी दार्शनिकों ने जड़वाद (Naturalism) का अर्थ जिस रूप में लिया है, उससे मार्क्स द्वारा प्रतिपादित अर्थ बिल्कुल भिन्न है। विचार और क्रिया की एकता के कारण मार्क्स दर्शन के अनुसार इस शब्द का जो अर्थ किया गया है, वह उसके पहले के अर्थ से सर्वथा भिन्न है। आदर्शवाद और जड़वाद के बीच जो भेद हमेशा से चला आता है, उससे यही समझा जाता था कि विचार एवं क्रिया में एकता नहीं हो सकती। इस भेद के अनुसार आदर्शवादी यह विश्वास करते थे कि मन और भाव-जगत् ही सत्य हैं और पदार्थ इससे अलग है। इस विश्वास के कारण जड़वाद के साथ हमारे मन में यह धारणा जम गई थी कि जीवन में किसी उद्देश्य या नैतिक प्रयत्न के लिये कोई स्थान नहीं है। जीवन के संबंध में हमारी जो जड़वाद मूलक धारणा है, उससे हम जड़वादी मनुष्य उसे ही कहते हैं, जिसके जीवन में किसी महत् उद्देश्य के लिये कोई स्थान नहीं हो; जो स्वार्थ परायण और स्वार्थ सेवी हो और जो भौतिक सुखों की प्राप्ति में लगा रहता हो। इसी के अनुसार — जड़वादी हमें समझते हैं, जो अपनी जीवन-यात्रा को एक

सिद्धान्त के अनुसार चलाता हो। और, जिसमें तत्कालिक भौतिक कामनाओं को तुष्टि से विरक्ति हो और स्वार्थ-रहित उद्देश्य के प्रति अनुरक्ति होती है। पर मार्क्स का जड़वाद निम्नकोटि की जीवन-प्रणाली का द्योतक नहीं है; बल्कि इस प्रकार के महत् जीवन का द्योतक है, जिसमें उच्च ज्ञान एवं जीवन के संबंध में गंभीर रूप से विचार करने और उसके महत्त्व को प्राप्त करने की प्रेरणा हाती है, क्योंकि मार्क्स का जड़वाद विचार और क्रिया को भिन्न मानकर नहीं चलता। यहाँ पदार्थ (Matter) और मन (Mind) को विराधो नहीं मानते। जिस क्षण हम इस बात की उपलब्धि कर लेते हैं कि जीवन ही क्रिया है और मानव जीवन चेतन क्रिया है, उसी समय आदर्शवाद और जड़वाद के बीच का कठोर भेद नहीं रह जाता। इस भेद के मिट जाने पर जड़वाद के मौलिक अर्थ में ही परिवर्तन हो जाता है। इस नूतन परिभाषा के अनुसार जड़वादी मनुष्य वह है, जो जानता है कि वह क्या कर रहा है। जो पूर्ण चेतना के साथ कार्य करते हुये यह जानता है कि वह इस ढंग से कार्य क्यों कर रहा है और उसके कार्य का क्या नतीजा होगा। इसके विपरीत आदर्शवादी वह मनुष्य है, जो इस बात से अवगत नहीं कि उसके भाव और उसकी कार्य-प्रणाली में क्या संबंध है। और इसलिये उसका आचरण और उसका परिणाम स्वयं उससे ही छिपा रहता है। इसलिये मार्क्स के जड़वाद में मानव-जीवन की क्रिया ही प्रधान वस्तु है और सब क्रिया में भौतिक या वास्तव (Material) है।

(२) मार्क्स ने इतिहास को भौतिक व्याख्या करके यह सिद्ध किया कि मनुष्य के आचार, विश्वास, विचार और व्यक्तित्व में उसकी परिस्थितियों की छाप रहती है, फिर भी वह स्वयं अपने

परिस्थितियों का निर्माता हो सकता है। इतिहास में भी विज्ञान की तरह अनुसंधान और जिज्ञासा की जा सकती है। जैसे विश्व में कोई कार्य बिना कारण के नहीं होता, वैसे ही इतिहास में कोई घटना बिना कारण के नहीं होती। मार्क्स ने यह सिद्ध किया है कि मनुष्य के विचार उसकी परिस्थितियों से नहीं, किन्तु उसके जीविका उपार्जन की विधि से बनते हैं। दूसरे शब्दों में समाज की आर्थिक रचना ही वह आधार है, जिस पर मानव के अन्य कार्य क्षेत्रों की प्रणालियाँ—राजनीति, समाजनीति, आचार, साहित्य, कला और कानून—स्थिर होती हैं। आर्थिक व्यवस्था ही समाज-भवन की नींव है और मानव के राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक कार्य उसके ऊपरी अंग हैं।

सामाजिक उत्पादन-व्यवस्था के संबंध में मार्क्स ने तीन तत्त्वों पर प्रकाश डाला है। पहला यह कि समाज की आर्थिक-व्यवस्था के आधार पर उसकी राजनीतिक, सामाजिक, आध्यात्मिक आदि व्यवस्था स्थित है। जब तक हम किसी समाज की आर्थिक रचना को नहीं समझ लेते, तब तक उसकी अन्य व्यवस्थाओं का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते। दूसरा तत्त्व यह है कि समाज की आर्थिक-व्यवस्था का निर्माण उत्पादन-संबंधों के योग से होता है। तीसरा तत्त्व यह है कि ये संबंध सामाजिक उत्पादन में भाग लेनेवाले मनुष्यों की अपनी आन्तरिक इच्छा पर निर्भर नहीं होते बल्कि उत्पादन की शक्तियों के विकास की अवस्था पर निर्भर रहते हैं। आर्थिक-व्यवस्था का आधार उत्पादन की शक्तियों का विकास होता है। पूँजीवादी युग में उत्पादन की शक्तियों का जो विकास है, उसके भीतर हम मालिकों और गुलामों का ठीक प्राचीनकाल का-सा संबंध नहीं ढूँढ सकते।

संक्षेप में यह स्पष्ट कर देने की जरूरत है कि मार्क्स का दर्शन-शास्त्र विकासवादी है। उसमें साइंस की रोशनी में और आगे बढ़ने की गुंजाइश है। मार्क्स-दर्शन में ऐसे सिद्धांत नहीं हैं जो हमेशा और हर जमाने में समान रूप से व्यवहार में लाये जा सकें। मार्क्स के दर्शन का मूल तत्त्व यह है कि विश्व परिवर्तनशील है और यह परिवर्तन अवाध गति से हमेशा होता रहता है। समाज रचना का मूल आधार आर्थिक-व्यवस्था है। आर्थिक-व्यवस्था उत्पादन-संबंधों पर निर्भर है, और ये उत्पादन-संबंध उत्पादक शक्तियों के विकास पर निर्भर हैं। इस प्रकार मार्क्स का दर्शन तर्क-सिद्ध होने के साथ-साथ परीक्षाणात्मक है। यह प्रत्येक तथ्य की व्यवहार से परीक्षा करता है। यह प्रत्येक मार्क्सवादी का कर्तव्य है कि वह मार्क्स के सिद्धांतों को वर्तमान विज्ञान के प्रकाश में विकसित, विस्तृत और यदि आवश्यकता हो तो संशोधित भी करे। मार्क्स के समय से दुनिया काफी आगे बढ़ गई है। अतः, बिल्कुल उसी रूप में मार्क्स के सिद्धान्तों का जीवन में आरोप करना गलत होगा। यदि विज्ञान के विकास के साथ मेल लाने के लिए उसमें परिवर्तन की आवश्यकता है तो वैसा करना ही चाहिए। अन्त में यह बराबर ध्यान रखना चाहिये कि मार्क्स विचारों और सिद्धांतों की रूढ़िवादिता में विश्वास नहीं रखता था, और ऐसा करना मार्क्स के प्रति न्याय करना होगा।



इतिहास की आर्थिक व्याख्या

मार्क्स के चिंतन की नवीनता में दूसरा स्थान 'इतिहास की आर्थिक व्याख्या' (Economic interpretation of history) का है। अभी तक लोग इतिहास के निर्माण में घटनाओं और शासकों को प्रधानता देते रहे हैं, परन्तु मार्क्स ने इस पुराने विचार-परिपाटी के खिलाफ एक नई विचार-धारा को जन्म दिया। उनके विचार से ऐतिहासिक घटनाओं के निश्चय करने में आर्थिक कारण का निश्चयात्मक प्रभाव पड़ता है। मार्क्स के पहले भी कुछ विद्वानों ने इतिहास के निर्माण में अर्थ का महत्त्व स्वीकार किया है। इनमें वस्लेखनीय नाम अरस्तू का है। अरस्तू का कथन है कि लोगों के पेशे उनके जीवन के ढंगों पर प्रभाव डालते हैं। सोट सीमों ने तो फ्रांस की राज-क्रान्ति को 'आर्थिक-क्रान्ति' ही माना है। पर अपने पूर्ववर्ती विद्वानों के समान मार्क्स ने इस सिद्धांत को केवल स्थिर (Static) नहीं माना है। उन्होंने उसे प्रगतिवादी दृष्टिकोण से देखा, और अपनी विचार-प्रणाली का इसे केन्द्रीय स्तम्भ बनाया। इस सिद्धांत का सारांश यह है कि समाज के विकास और प्रगति की दिशा पैदावार और विनिमय के तरीकों पर निर्भर रहती है। और दूसरे कारण भी अपना असर डालते हैं, लेकिन वे आर्थिक कारण जैसे शक्तिशाली नहीं होते।

एंगिल्स ने स्वयं भी इस सिद्धांत की व्याख्या करते हुए कहा है, 'समस्त सामाजिक परिवर्तनों तथा राजनैतिक क्रान्तियों के प्रन्तिम कारण न तो मनुष्य के दिमाग में और न मनुष्य के चिर

‘सत्य और न्याय-संबंधी ज्ञान में पाये जाते हैं, वरन् वे उत्पत्ति तथा विनिमय के ढंगों में ही मिल सकते हैं।’ यह ठीक है कि मार्क्स ने अपने इस सिद्धांत के प्रचार पर काफी जोर दिया है, पर पूँजीवादी के पुजारियों ने इस सिद्धांत की जिस तरह से आलोचना की है वह बिल्कुल भ्रमात्मक है। ये लोग मार्क्स पर यह आरोप लगाते हैं कि मार्क्स तो सिर्फ आर्थिक प्रभाव को ही पूर्ण और सत्य मानता है। पर वास्तव में ऐसा मार्क्स ने कभी नहीं कहा। इतिहास की केवल आर्थिक व्याख्या ही नहीं है, पर उसकी नैतिक, धार्मिक, राजनैतिक व्याख्या भी है। यश और शक्ति के लिए पिपासा, धार्मिक महत्त्वाकांक्षाएँ, जातीय पक्षपात और वैज्ञानिक उत्सुकता आदि भी उतने ही वास्तविक हैं।

मृत्यु से पहले एंगिल्स ने स्वयं ही इस गलत धारणा को दूर करने के ख्याल से स्पष्ट शब्दों में अपने एक विद्यार्थी को पत्र में लिखा था कि मैं (एंगिल्स) और कार्ल मार्क्स आंशिक रूप से इस बात के उत्तरदायी हैं कि युवकगण कभी-कभी आर्थिक कारणों पर आवश्यकता से अधिक जोर देते हैं। अपने विरोधियों का सामना करने के लिये हमारे लिये यह आवश्यक था कि हम उनके द्वारा उपेक्षित सिद्धांत पर विशेष जोर देते और हमको इस बात का समय, स्थान और अवसर न मिला कि हम दूसरे कारणों की ठीक-ठीक व्याख्या कर सकते।

एक दूसरे पत्र में वे लिखते हैं कि भौतिकवादी दृष्टिकोण से वास्तविक जीवन की उत्पत्ति तथा पुनरुत्पत्ति इतिहास को निश्चित रूप देनेवाला अंतिम कारण है। इससे अधिक न तो मार्क्स ने ही कुछ कहा है और न मैंने ही। परन्तु जब कोई इसका अर्थ यह निकालता है कि आर्थिक कारण ही पूर्ण तत्त्व है, तब वह हमारे

कथन का अनर्थ करता है। आर्थिक दशा केवल आधार है, लेकिन ढोंके के अन्य तत्त्व, वर्ग-युद्ध के राजनीतिक रूप और उनके परिणाम, कानूनी सुधार और उन युद्धों का उनमें भाग लेनेवाले लोगों के मस्तिष्क पर प्रभाव, राजनीतिक, कानूनी, दार्शनिक योजनाएँ, धार्मिक सिद्धान्त आदि समस्त ऐतिहासिक संघर्ष के विकास पर प्रभाव डालते हैं और उनके उदाहरणों में उनके रूप को निश्चित करते हैं।

उपरोक्त पत्रों से इतिहास की आर्थिक व्याख्यावाला सिद्धान्त स्पष्ट हो जाता है और इसके बाद भी इस साफ कथन की उपेक्षा करके अपनी व्यक्तिगत व्याख्याओं और विचारों के अनुसार मार्क्स के इस दार्शनिक सिद्धान्त को एक उल्टा और गलत रूप दे दें, तो इसका उत्तरदायित्व उसी पर है, मार्क्स पर नहीं। ऊपर के विवेचन से इस सिद्धान्त का केवल यही अर्थ निकलता है कि अधिकांश में सामाजिक सन्नति की प्रगति और दिशा तत्कालीन आर्थिक अवस्थाओं, विशेष रूप से धन की उत्पन्न करने के ढंग और सामाजिक संबंधों द्वारा निर्धारित होती है।

मार्क्स ने इस सिद्धान्त को इतिहास की भौतिक-व्याख्या (Materialistic Interpretation of History) ही कहा था, क्योंकि वे इसे हेगल और उनके अनुयायियों के परतत्त्ववादी (Metaphysical) आदर्शवाद से भिन्न होने पर जोर डालना चाहते थे। परन्तु, वर्तमान सामाजवादी इसे इतिहास की आर्थिक व्याख्या के नाम से पुकारते हैं; क्योंकि आर्थिक शब्द और भौतिक शब्द से अधिक उपयुक्त अर्थ देता है। दूसरे, यह उस भ्रम को दूर कर देता है, जो साधारण मस्तिष्क में 'भौतिकवादी' शब्द और दार्शनिक भौतिकवाद के सिद्धान्तों

के मेल से उत्पन्न होता है। ग्रेट ब्रिटेन के प्रसिद्ध सामाजवादी विद्वान जी० डी० एच० कोल इसे 'इतिहास की वास्तविक व्याख्या' कहते हैं।

स्टेलिन ने लुडविग के इस सिद्धांत पर प्रकाश डालते हुए एक बार कहा था कि मार्क्सवाद यह नहीं कहता है कि बड़े पुरुष घटनाओं के निश्चय में कोई महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं रखते, न वह इसी बात को अस्वीकार करता है कि मनुष्य अपना इतिहास स्वयं नहीं बनाते। परन्तु, मनुष्य अपनी इच्छा के अनुसार इतिहास का निर्माण नहीं करते। प्रत्येक नवीन पीढ़ी को निश्चित दशाओं का सामना करना पड़ता है, जो इस पीढ़ी के जन्म के पहले ही से मौजूद होती हैं। परन्तु, वे इतिहास को उसी सीमा तक बनाते हैं, जिस तक कि वे तात्कालिक परिस्थितियों को ठीक रूप में समझते हैं, और उन परिस्थितियों में परिवर्तन करने का ज्ञान रखते हैं। इस प्रकार के आधार पर ही परिवर्तन होता है।

भौतिक वस्तुएँ, जिनको मार्क्स ने सामाजिक परिवर्तन की निश्चय करनेवाली क्रियात्मक शक्तियाँ समझा था, केवल प्राकृतिक वस्तुएँ ही नहीं हैं; किन्तु वे सभ्यता के विकास के साथ-साथ उन वस्तुओं को भी सम्मिलित करती हैं, जिनको मनुष्य ने प्राकृतिक पदार्थों का परिवर्तन करके बनाया है। इसके अतिरिक्त प्राकृतिक पदार्थ भी मनुष्यों में उनके प्रयोग करने के ज्ञान द्वारा ही मानवीय इतिहास पर प्रभाव डालते हैं।

इस प्रकार वे वस्तुएँ जिनको मार्क्स भौतिक कहते हैं और जिनको वे सामाजिक विकास का कारण मानते हैं, विशेष रूप में मस्तिष्क की उपज हैं। इसके विपरीत वे इस बात का समर्थन करते हैं कि मनुष्य अपने इतिहास को स्वयं बनाते हैं, वह ईश्वर की इच्छा

अथवा अवसर पर निर्भर नहीं है। यद्यपि मनुष्य अपने इतिहास को स्वयं बनाते हैं, तथापि वे ऐसा विशेष रूप से आर्थिक वातावरण में परिवर्तन करके ही करते हैं।

महापुरुषों के सिद्धान्त के विषय में वे कहते हैं कि महान् आविष्कार अनेक अन्वेषकों के कार्यों के संचित फल के रूप में उत्पन्न होता है; और अत्यन्त विनाशकारी युद्ध इतिहास में केवल एक मनुष्य की महत्वाकांक्षा अथवा सैनिक चातुर्य से प्रारम्भ नहीं होता। वास्तव में इतिहास में महानपुरुष संबंधी योजना उपयुक्त नहीं बैठती। परन्तु, इसकी सत्यता को अस्वीकार करने का तात्पर्य यह नहीं है कि महानपुरुषों का कोई स्थान और असर ही नहीं होता, बल्कि उनकी महानता उस समय के अवसरों और आर्थिक परिस्थितियों के अनुकूल होती है और उनपर निर्भर होती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मार्क्स के मत से समाज के जितने नियम और रीति-रस्म हैं, वे सब समाज में पैदावार और उत्पादन के तरीकों और ताकतों के ही नतीजे हैं। यह ताकत कहाँ और कौन-शकल अस्तित्व करेगी, यह सब उस देश को भौगोलिक हालात पर मुअस्सर होता है। उत्पादन की शक्ति ही मनुष्य-मनुष्य के बीच आर्थिक संबंध स्थापित करती है और बाद में इस आर्थिक संबंध की दीवार पर से ही समाज और राष्ट्र अनेकों रूप ग्रहण करते हैं। यह आर्थिक-आधार ही हर क्षण मनुष्य की चेतना, कल्पना, विचार-धारा आदि को निमंत्रित करती है। परन्तु इसके यह मानो कदापि नहीं हैं कि स्वयं मनुष्य हमेशा निस्सहाय है, कुछ कर नहीं सकता। मार्क्स ने साफ कहा है कि प्रकृति जिस तरह मनुष्य के ऊपर अपना प्रभाव डालती है, उसी प्रकार मनुष्य भी प्रकृति के ऊपर प्रभाव

हालकर अपने आस-पास के हालात में बहुत कुछ हेरफेर और परिवर्तन करने में समर्थ होता है और इस तरह परोक्ष या अपरोक्ष रूप से वह अपने को बहुत कुछ बदल देता है। मनुष्य और उसकी परिस्थिति परस्पर प्रभाव डालकर, एक दूसरे के द्वारा प्रभावित होकर, इतिहास के पन्नों को बिखते आये हैं। इसलिये इतिहास कुछ नहीं करता है। जीवन्त मनुष्य ही सब कुछ करता है। इतिहास अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिये मनुष्य को साधन नहीं बनाता, बल्कि मनुष्य अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिये जो काम करता है, उससे पृथक् इतिहास और कुछ नहीं है।

वर्ग-संघर्ष

मार्क्सवादी दर्शन में 'वर्ग-संघर्ष' के सिद्धान्त का एक बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। एक प्रकार से मार्क्स की 'भौतिक-व्याख्या' (इतिहास की आर्थिक व्याख्या) का यह तत्त्व या सिद्धान्त पूरक है। पूँजीवादी आलोचकों और लेखकों की कटु आलोचना का यही सिद्धान्त सबसे अधिक शिकार हुआ है। किसी भी दूसरे सिद्धान्त को लेकर इतने वाद-विवाद नहीं हुये, जितने इस वर्ग-संघर्ष या श्रेणी-युद्ध को लेकर। सबसे अधिक गालियाँ समाजवाद को इसीके नाम पर खानी पड़ी हैं। पूरी समीक्षा किये बिना ही बहुत-से लेखकों ने इस पर छींटेंकशी शुरू कर दी। पर यदि सिद्धान्त को ठीक-ठीक समझने की कोशिश की जाय तो वे स्वयं इस नतीजे पर पहुँचेंगे कि यह वर्ग-संघर्ष न तो अशांति का नारा लगाता है और न यह घृणा का ही प्रचार करता है। ऐसी हालत में तात्त्विक दृष्टि से इस सिद्धान्त को समझना और जरूरी हो गया है।

ऐसे विवाद-प्रस्त विषय को वारीकी से समझने के लिये सबसे पहले हमें 'वर्ग-संघर्ष' के शाब्दिक अर्थ को समझ लेना चाहिये। 'वर्ग-संघर्ष' दो शब्दों के योग से बना है—वर्ग+संघर्ष अर्थात् दो भिन्न-भिन्न स्वार्थवाले वर्गों का संघर्ष। इस सिलेसिले में पहले 'वर्ग' शब्द का अर्थ जानना आवश्यक है। प्रायः लोग 'वर्ग' शब्द का प्रयोग बिना समझे ही करने लगते हैं। वर्ग शब्द को मार्क्स ने एक विशेष अर्थ में प्रयुक्त किया है। ऐसे व्यक्तियों का एक समूह जिनका आर्थिक स्वार्थ एक-सा हो, जिनके कमाने [के, धन पैदा

करने के एक-से ही रास्ते हों और समाज में जिनको समान आर्थिक और सामाजिक स्थान प्राप्त हो। पर यह भिन्नता शुरू कबसे हुई ? आप अगर मनुष्य-समाज के अति प्राचीन इतिहास को लें तो आप उसमें एक ऐसा युग पायेंगे जहाँ समाज का ढाँचा एक प्रकार के साम्यवाद के ऊपर खड़ा था। समाज में कम्यून-प्रथा (संघ-प्रथा) प्रचलित थी। प्रत्येक व्यक्ति काम करता था। उत्पत्ति या पैदावार के साधनों पर, जो उन दिनों अति अविकसित अवस्था में थे, किसी एक व्यक्ति का हक न था। भूमि और अन्य साधन समूह या संघ के होते थे। इसीलिये अर्जित या प्राप्त वस्तुओं पर सभी का समान भोग-अधिकार रहता था। उस समय तक व्यक्तिगत सम्पत्ति का श्रीगणेश नहीं हुआ था। समाज में समान हित और समान अधिकारवाला एक ही वर्ग था, और जब भिन्न वर्ग ही न हों, तो उस समय वर्ग-संघर्ष का प्रश्न ही क्यों उठता ! पर आगे चलकर हालत बदली। किन्हीं कारणों से समाज में एक ऐसे वर्ग का विकास हुआ जो धीरे-धीरे सारे पैदावार के जरियों को अपने कब्जे में करता जाता था और बढ़ते-बढ़ते इसी हालत के बीच से मानव-समाज में दास और स्वामी दो प्रकार के वर्गों का सूत्रपात हुआ। यहाँ मालिकों के हित एक तरह के थे और गुलामों के दूसरी तरह के। मालिक गुलामों को कम-से-कम भोजन देकर ज्यादा-से-ज्यादा काम लेते थे। ये गुलाम भी परिस्थिति-वश आजन्म अपने मालिकों के लिये कार्य करते थे। यह कार्य स्वेच्छा से नहीं, भय और आतंक से कराया जाता था। एक ओर मालिकों का स्वार्थ था और दूसरी ओर दासों की पीड़ा। समाज में पहले-पहल वर्ग-संघर्ष के बीज यहीं से पड़ते हैं ; क्योंकि संघर्ष वहीं आता है, जहाँ

स्वार्थ भिन्न होता है और भिन्न स्वार्थवाले समाज का दर्शन हमें दास प्रथावाले समाज से ही होता है। जिन्होंने यूरोप और मध्य एशिया के इतिहास को पढ़ा है, वे अच्छी तरह से जानते हैं कि दासों ने अपनी स्वाधीनता के लिये, गुलामी के जुये को उतार फेंकने के लिये कितनी बार विद्रोह किया और बार-बार उन्हें बर्बरता और निर्दयता के साथ दूसरे वर्ग ने दबा दिया। इसके बाद सामंत युग में बन्धक किसान (सर्फ) और सामंत दोनों के अलग-अलग हित रहे। सामंत लोगों ने मिलकर अपने दास-जोता के खिलाफ कानून बनवाये। जोता-दासों के भ्रम और शक्ति का ज्यादा-से-ज्यादा उपयोग करना सामंतों का उद्देश्य था। यहाँ पर भी समाज में दो वर्ग मौजूद थे और ये प्रायः अपनी ताकत देखकर लड़ते भी रहते थे। इसके बाद व्यवस्था में फिर परिवर्तन हुआ। शोषित और शोषक वर्गों ने नये चोंगे पहन लिये। शोषन जारी रहा, पर लेबिल बदल गया। सामंतों का स्थान पूँजीपतिओं ने और दास-जोतों का मजदूरों ने लिया। अधिकार और स्वत्वों के पाटों के नीचे साधन-शून्य मजदूर पिसने लगे। लक्ष्मी और शक्ति ने अपने पहले स्वामी का परित्याग कर दूसरे से नाता जोड़ा। आज पूँजीपति कम-से-कम ऐसे देकर अधिक-से-अधिक काम लेना चाहते हैं और मजदूर अपने भ्रम का उचित मूल्य चाहते हैं। इन दोनों हितों में आज संघर्ष चल रहा है। इसीलिये कहीं हड़तालें और कहीं काम बन्द होता है। इस प्रकार सभ्यता के बचपन से हमें समाज में दो वर्गों का अस्तित्व दिखलाई देता है। नाम की भिन्नता के सिवाय पाठक बारीकी से देखें, तो समाज में एक वर्ग हमेशा से ऐसे लोगों का रहा है, जो अपने से कमजोर और अधिकार-शून्य वर्ग का शोषण करता

रहा है। शोषकों के इस वर्ग ने कभी स्वामी, कभी सामंत और कभी पूँजीपति का नाम धारण किया है। दूसरे वर्ग में ऐसे लोग रहे हैं जिन्हें दबाकर सामर्थ्य से अधिक काम लिया गया है। यह वर्ग कभी गुलाम, कभी बन्धक जोता (सर्फ) और कभी मजदूर नाम से समाज में कायम रहा। इस वर्ग को रोटी या कम-से-कम मजदूरी देकर काम करते रहने को मजबूर किया गया। इस प्रकार यह प्रकट होता है कि मानव-इतिहास में बहुत पहले से ही वर्गवाद स्थान पा चुका था। यह कोई समाजवादियों द्वारा गढ़ी हुई नामावली नहीं है। इतिहास 'वर्ग' के अस्तित्व की स्वयं पुष्टि करता है। अतः यह कहना कि वर्गवाद मार्क्स ने खड़ा किया गलत और भ्रमात्मक है।

ये दोनों वर्ग दुनिया में थोड़े बहुत परिवर्तन के साथ मौजूद रहे हैं। अतः समाज के विकास में वर्ग-संघर्ष कोई नई चीज नहीं है। मार्क्स ने केवल वर्ग-संघर्ष का विश्लेषण करके उससे मुक्ति पाने का रास्ता खोजा है। अपने इस अनुसंधान के बीच वे इस निश्चय पर पहुँचे कि वर्ग-चेतना द्वारा ही वर्ग-वाद को स्थाई रूप से खत्म किया जा सकता है। वर्ग-चेतना या वर्ग-संघर्ष एक प्रकार का सामाजिक इन्जेक्शन है। जो रोग हो उसीके कीटाणुओं को रक्त में प्रवेश कर रोग को मिटाना—मार्क्स का यह उपचार व्यावहारिक और अमली साबित हो चुका है। अतः जो आलोचक वर्ग संघर्ष को समाजवाद का उद्देश्य या लक्ष्य मानते हैं, वे बड़ी भूल करते हैं। वर्ग-संघर्ष समाजवादी दर्शन का लक्ष्य नहीं है, साध्य नहीं है—साधन या रास्ता है। शोषित समाज शोषक समाज के विरुद्ध संगठित होकर खड़ा हो जायँ। और आज जो भिन्न स्वार्थ समाज में दिखाई देते हैं वे खत्म हो जायँ। प्रत्येक व्यक्ति का मकसद

और उसका पुरस्कार प्राप्त करे । शोषक और शोषित व्यक्ति की दोनों अवस्थाएँ खत्म होकर एक श्रमिक वर्ग का श्रोगणेश हो ।

माक्स का विश्वास था कि आर्थिक परिवर्तन के कारण, अथवा उत्पत्ति के साधनों में बदल होने की वजह से ही श्रेणी या वर्गों का जन्म होता है । इसीलिए बड़े पैमाने पर मशीन की तरक्की ने एक नये सर्वहारावर्ग (Proletariat) को जन्म दिया । १९वीं सदी के शुरू में जो व्यावसायिक क्रान्ति एक अनोखी आर्थिक उन्नति का कारण बनी, उसी क्रान्ति ने समाज में एक ओर एक छोटे से पूँजीवादी वर्ग का और दूसरी ओर असंख्य धनहीन मजदूर वर्ग का भी जन्म दिया । यह ठीक है कि इस व्यावसायिक क्रान्ति से पहले भी स्वामी और गुलाम होते थे । इतना ही नहीं छोटे-छोटे पूँजीपतियों के रूप में कुछ लोग अपनी मलिकयत भी कायम कर चुके थे । राष्ट्र या सरकार ने बराबर उस स्वामित्व में सहायत दी । इसके लिए सर्वहारा-वर्ग को आर्थिक दृष्टि से सदैव पूँजीपतियों का मुकाबला करना पड़ता है । यह मुकाबला जो दोनों वर्गों के हितों की भिन्नता से उत्पन्न होता है, हमेशा नये झगड़े और संघर्ष पैदा करता रहता है । इन्हीं झगड़ों को वर्ग-संघर्ष कहा जाता है । आजकल यही संघर्ष पूँजीपति और मजदूरों के बीच बड़ी तेजी से चल रहा है । एक ओर शोषक-वर्ग है और दूसरी ओर शोषित-वर्ग । इस संघर्ष में सर्वहारा-वर्ग की जीत ही वग-स्यार्थ और वर्ग-संघर्ष दोनों को खत्म कर देगी ।

एगिल्स के कथन से यह बात और स्पष्ट हो जायगी । उनके विचार से प्रत्येक ऐतिहासिक युग में, प्रचलित आर्थिक उत्पत्ति और

विनिमय के साधन और उनके फलस्वरूप सामाजिक प्रणाली एक-एक ऐसे आधार का निर्माण करते हैं जिस पर उस युग का राजनैतिक और बौद्धिक इतिहास खड़ा किया जाता है और केवल उससे ही इसकी व्याख्या की जा सकती है। इसीलिए मनुष्य जाति का कुल इतिहास वर्ग-संघर्ष का इतिहास रहा है। यह वर्ग-संघर्ष का इतिहास विकास की एक माला है जो आज इस अवस्था को पहुँच गई है कि जिसमें शोषित और पीड़ित वर्ग शोषक और हुकूमत करनेवाले वर्ग से तब तक छुटकारा नहीं पा सकता जब तक कि वह कुल समाज का शोषण, जुल्म और वर्ग-भेद एवं वर्ग-युद्ध से मुक्त न कर दे।

ऊपर के कथन में पाँच मुख्य सिद्धांत हैं। पहला तो यह कि वर्ग-युद्ध और वर्ग-भिन्नता समाज के आर्थिक जीवन के फल हैं। दूसरा जब से आदि समाज (Primitive Society) जो समाजवाद पर ही खड़ा था, भंग हुआ है, तब से मनुष्य जाति वर्गों या श्रेणियों में बँट गई हैं—हिन्दुस्तान में आगे चलकर इन श्रेणियों ने ही जाति का रूप ले लिया था। और उसका कुल इतिहास इन वर्ग-युद्धों का इतिहास है। प्रत्येक युग में शासक-वर्ग का हित साधन हुआ है। चौथे, समाज के विकास में अब वह स्थिति आ गई है जिसमें श्रेणी संघर्ष सर्वहारा-वर्ग और पूँजीपति-वर्ग में होगा। पाँचवीं बात यह है कि अपने को मुक्त करने के प्रयत्न में सर्वहारा-वर्ग समस्त वर्गों के अस्तित्व को मिटा देगा और तब सारे समाज को श्रेणी युद्ध से छुटकारा मिल जायगा।

आदि समाज के बाद की तीनों अवस्थाओं में (दास-प्रथा, सामन्त-वादी और पूँजीवादी प्रथा) उत्पादन के सारे साधन एक वर्ग के

अधिकार में रहे हैं और उनमें लगनेवाला सारा श्रम दूसरे वर्ग का रहा है। उत्पादन के साधनों का यह स्वामित्व ही समाज में वर्ग भेद का कारण बना। अतः वर्गवाद को समाप्त करने के लिए जिस तरह पहले सारे उत्पादक साधन संघ के होते थे उसी तरह बड़े-बड़े उत्पादक साधनों पर राष्ट्र या ग्राम पंचायतों का स्वामित्व रहे। सारे नागरिक शारीरिक, मानसिक या किसी भी तरह का काम करें और उस काम के अनुसार राष्ट्र उनकी जीविका की जिम्मेवारी ले। इस प्रकार की व्यवस्था का परिणाम यह होगा कि व्यक्तिगत रूप से साधनों का स्वामी कोई नहीं रह जायगा और जब साधनों का स्वामित्व खत्म होगा तो शोषण भी उसके साथ ही बन्द हो जायगा। लेकिन समाज में ऐसी व्यवस्था कायम करने से पूर्व शोषित-वर्ग को अपने हित और भलाई को समझना होगा। आज जिस अन्याय को वह हँसकर सह लेता है उसका मुकाबला करना होगा। इस प्रकार के सफल मुकाबले के लिये स्वामित्व-हीन, साधन-शून्य, शोषित-वर्ग का संगठित मोर्चा आवश्यक है और इस संगठित मोर्चे के लिए वर्ग-चेतना। इसीलिये 'सामाजवाद वर्ग-चेतना को समाजवाद की स्थापना में एक अनिवार्य साधन मानता है।

एक बात और स्पष्ट करना जरूरी है। जब हम वर्ग-संघर्ष की बात करते हैं तो इसके माने व्यक्तिगत द्वेष या शारीरिक दुश्मनी को नहीं हैं। यह तो दो भिन्न-भिन्न हितों की लड़ाई है। व्यवस्था का संघर्ष है। शोषक-वर्ग के विरुद्ध शोषित-वर्ग का मोर्चा वर्ग-संघर्ष किसी की 'जान' को लेने का उपदेश नहीं देता। इसे अमुक सेठ या साहूकार से घृणा नहीं वरन् उस प्रणाली या परिपाटी से दुश्मनी है

जिसका कि वह एक प्रतिनिधि है। क्योंकि साहूकारी ने शोषण या विषमता को जन्म दिया है। यह सामाजिक, आर्थिक विषमता जिस दिन खत्म हो जायगी वर्ग-संघर्ष उस दिन न रहेगा और इसके साथ ही घृणा या शत्रुता का भी कोई स्थान न होगा। भाई-भाई के समान सभी नागरिक मेहनत करेंगे और सभी अपनी-अपनी मेहनत के अनुसार पुरस्कार पायेंगे।

इस प्रकार समाज में राष्ट्र या स्थानीय पंचायतें साधन का स्वामित्व ग्रहण करेंगी। व्यक्तियों में स्वामी और मजदूर की श्रेणियाँ न रहेंगी। सारे समाज में एक ही वर्ग शेष रह जायगा—श्रमिक वर्ग। ऐसी अवस्था में भिन्न-भिन्न स्वार्थों के अभाव में एक वर्ग शून्य (classless society) समाज का निर्माण होगा। यह वर्ग शून्य-समाज ही समाजवाद का अन्तिम लक्ष्य है। यही वह पुनीत मन्दिर है जहाँ पहुँचकर समाज स्थाई उन्नति और विकास की सुविधाओं को प्राप्त करेगा। घृणा, द्वेष, कलह, विषमता, भुखमरी और बेकारी इन सभी आर्थिक और सामाजिक कलंकों से दूर एक ऐसे समाज की रचना होगी जहाँ श्रम की पूँजी के साथ मानवीय-प्रेम का करना समाज सेवा के रूप में फूटकर विश्व नागरिकता के सागर में मिल जायगा। समाजवाद का यह सुनहला स्वप्न है। मार्क्सवाद का यही पुनीत उद्देश्य है और मानवता का यही चरम उत्कर्ष है।

पूँजीवाद की भूमिका

प्रायः हममें से हर एक व्यक्ति आज यह मानने लगा है कि दुनिया में मौजूदा असंतोष, दुःख और पीड़ा का प्रधान कारण आज की आर्थिक-रचना है। जब तक देश की आर्थिक व्यवस्था 'पूँजीवाद' पर निर्भर है तब तक मूलतः प्रचलित बुराइयाँ दूर नहीं की जा सकतीं। अतः पूँजीवाद को खत्म करना हमारा पहला कर्तव्य है। लेकिन इस विचार के साथ एक सवाल उठता है कि आखिर जिस चीज को हमें खत्म करना है वह किन और कैसी परिस्थितियों में पैदा हुई थी ? क्या 'पूँजीवाद' जादू के ज़ार से व्यवस्था में एक ही दिन में आ गया ? पूँजीवाद के विकास के लिये पूँजी की आवश्यकता होती है क्योंकि बिना पूँजी के पूँजीवाद खड़ा किस पर होगा ? तब यह व्यक्तिगत पूँजी शुरु कहाँ से हुई और कितनी हुई ? किस सामाजिक-रचना ने पूँजी को पनपने और बढ़ने का मौका दिया ? क्योंकि यह भी सच है कि मानवीय सभ्यता अपने बचपन से पूँजीवादी तो नहीं थी। केवल निर्वाह के साधनों से संपन्न मानव आखिर करोड़पति बन कैसे गया ? यह बड़ा सवाल है। इसी सवाल के उत्तर में पूँजी के विकास का इतिहास छिपा है। वह कौन-सा युग था जिसने व्यक्ति को पूँजी जमा करने का मौका दिया ! ऐसी हालत में पूँजीवाद कैसे काम करता है यह समझने के लिये पूँजीवादी-संग्रह' (Capitalistic-accomodation) की आदि प्रवृत्तियों को समझना होगा। जब तक इसके मूल को ठीक-ठीक नहीं समझ लिया जाता तब तक ऊपर की शाखाओं का अध्ययन अधूरा रहेगा।

पूँजी के इस आदि रूप के बारे में भिन्न-भिन्न अर्थ-शास्त्रियों की अलग-अलग राय है। सिद्धान्तः यह बात भी अदमस्मिथ आदि शास्त्रियों ने भी मान ली है कि पूँजीवाद का असली रूप आने से पहले ही संग्रह (इकट्ठा करने) की क्रिया शुरू हो गई थी। लेकिन हम लोगों के ख्याल से संग्रह का यह काम कुछ कजूस या मितव्ययी लोगों से शुरू हुआ था जो अपने निर्वाह से दो-चार पैसे बचा लेते थे और इस प्रकार एक लम्बे अरसे से वे कुछ पैसा जोड़ सके थे। पूर्व-पूँजीवादी युग के ये नौसिखिये ही धीरे-धीरे पूँजीपति बन गये। पर यह दलील गले के नीचे नहीं उतरती।

माक्स की इस बारे में अपनी अलग राय है। जिसको उन्होंने बड़े आग्रह और जोर के साथ अपनी पुस्तक 'केपीटल' में दिया है। आदि 'पूँजीवाद' के विकास की यह कहानी बड़ी करुण और वदनाक है। कितनी बर्बरता, कितने जुल्म और कितने चीत्कार के भीतर से आज का पूँजीवाद बढ़ा है। कितनों की मन्द-मौत के ऊपर इसकी इमारत खड़ी की गई है! इसे विस्तार से पढ़ने के लिये माक्स के ग्रन्थों का अध्ययन आवश्यक है।

एक जमाने की बात है—इंग्लैंड और दूसरे देशों के लोग आज उस बात को भूल गये हैं। उत्पत्ति के साधन और जमीन का जो कि उन दिनों पैदावार का खास जरूरी था, हर कोई मालिक था। सभी के पास जमीन थी। किसी न किसी शकल में जमीन का कुछ न कुछ हिस्सा प्रत्येक व्यक्ति के पास था—या तो निजी खेत की शकल में या ग्राम की जमीन में अपने हिस्से की शकल में। इस प्रकार अपनी जरूरत के माफिक वे खाना और कपड़ा बिना किसी

की इजाजत के तैयार कर सकते थे । मानव उन दिनों स्वावलम्बी था स्वतंत्र था ।

धीरे-धीरे यह जमीन चन्द लोगों के हाथ में इकट्ठी होने लगी । स्थिति बदली और कुछ लोग जमीन के बड़े-बड़े हिस्सों के मालिक बन बैठे । सर्वसाधारण के अधिकार से छीनकर कुछ लोगों को जमीन दे देने का चलन में ही पूँजीवादी-प्रथा की नींव पड़ी है । जहाँ यह चलन एक बार शुरू हुआ कि जमीन पर अधिकार रखनेवाले लोग उनलोगों से मजदूरी पर अपने लिये काम करवाने लगे जिनके पास स्वयं की जमीन न थी । जिनके पास उत्पत्ति के साधन न थे वे साधनों के मालिकों के लिये मजदूरी पर काम करने को मजबूर हुये । साधनों और जमीन के मालिक उनकी मेहनत से अपने लिये कुछ फायदा कर लेते थे । दूसरों की मेहनत से लाभ उठाने की यह प्रथा 'पूँजीवादी-संग्रह' की पहली सीढ़ी है । क्योंकि इस जमाने में जमीन और अन्य साधनों से खाली होकर कुछ लोग बाजार में अपनी मेहनत बेचने को मजबूर हुए । ऐसेवाले या साधन संपन्न लोग सस्ते से सस्ते दामों में, खुले बाजार में इनलोगों की मेहनत या श्रम को खरीदते थे । जितने में इनका श्रम खरीदा जाता था उससे कहीं अधिक मूल्य का काम उनसे लिया जाता था । इस प्रकार से काम लेने की प्रथा ने बहुत देशों में एक नये वर्ग को जन्म दिया जिसे पूँजीवादी युग से पहले का पूर्व-पूँजीपति या 'आदि-पूँजीपति' कहा जा सकता है ।

जैसे-जैसे खेतों या जमीन पर से लोगों को हटाने या निकालने का काम बढ़ता गया, निकलते हुए किसानों की संख्या बढ़ती गई,

वैसे-वैसे खुले बाजार में अपनी मेहनत को बेचनेवाले इन स्वतंत्र मजदूरों की संख्या भी बढ़ती गई। इंग्लैंड आदि देशों में किस-किस तरह से, कानून के किन-किन दाव-पेंचों से खेतिहर आबादी को निकाला गया, इसका बड़ा विस्तृत विश्लेषण मार्क्स ने किया है। 'कृषि-क्रान्ति' की प्रतिक्रिया का इस सब पर क्या असर पड़ा, उद्योग-धन्धों पर क्या प्रभाव पड़ा। उद्योगों के लिये एक घरेलू बाजार की जरूरत पड़ी और यह बाजार कैसे कब्जे में किये गये— यह सब पूँजीवादी इतिहास के पन्नों में मिलेगा।

ब्रिटेन, स्पेन, हालेण्ड आदि देशों में इस नये 'धनपति' वर्ग ने कुछ धन इकट्ठा किया। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है। बाद में इस धन या पूँजी को व्यापार में लगाया गया। यह पैसा खेतिहरों की जमीन छीनने में ही सहायक नहीं हुआ वरन् उपनिवेशों में इस रुपये को फैलाने की कहानी भी बड़ी भयंकर और दारुण है। इस प्रकार सामंतशाही-प्रथा की अन्तिम साँसों के भीतर से आदि 'पूँजीवाद' का जन्म हुआ और यह आदि पूँजीवाद धीरे-धीरे वर्तमान दुष्ट-पूँजीवाद के रूप में बदला।

हमने देखा कि किस प्रकार पैसा या धन पूँजी में परिवर्तित हुआ? किस प्रकार पूँजी से अतिरिक्त मूल्य की उत्पत्ति हुई यह विषय पुस्तक के अगले अध्यायों में वर्णित है। इस अतिरिक्त मूल्य में से फिर कैसे नई पूँजी निकली? लेकिन पूँजी-संग्रह से पहले हमें अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त को मानना पड़ता है और इस अतिरिक्त मूल्य के लिये पूँजीवादी उत्पादन के सिद्धान्त को स्वीकार करना पड़ता है। पूँजीवादी-उत्पादन के लिये आदि पूँजी की अनिवार्यता निश्चित है और इस प्रकार के उत्पादन के लिये

‘श्रम-शक्ति’ जरूरी है। परिणामस्वरूप एक ऐसा अमंगलकारी चक्र तैयार हो जाता है जिससे निकलने के लिये पूँजीवादी-उत्पादन से पहले ‘आदि-संग्रह’ के सिद्धान्त को मानना ही पड़ता है। मार्क्स के पूँजीवाद की यह आदि-संग्रह नीचे की ईंट है।

इस ‘आदि-संग्रह’ का अर्थ-शास्त्र में वही स्थान है जो धर्म-शास्त्र में आदि-पाप (original sin) का। जिस प्रकार इस आदि पाप ने संसार में असंख्य बुराइयों को जन्म दिया उसी प्रकार इस ‘आदि-संग्रह’ से सारी सामाजिक और आर्थिक बुराइयाँ पैदा हुई हैं। निर्वाह के साधन और उत्पत्ति के साधन के समान ही स्वयं पैसा या पदार्थ (Commodity) को भी पूँजी का नाम नहीं दिया जा सकता—इन सब को पूँजी में बदला जाता है। स्वभाव से ये सब केवल मानव-निर्वाह के छोटे-बड़े साधन हैं। और इन्हें पूँजी में बदलने का काम विशेष परिस्थितियों के अन्दर ही हो सकता है। इसके लिये दो प्रकार के पदार्थों (Commodities) या पण्यों के मालिकों को बजार में एक दूसरे के संपर्क में आना चाहिये—एक धन और साधन का स्वामी, उत्पत्ति और निर्वाह के साधनों का मालिक जो अपने पास की चीजों के मूल्य को बढ़ाने के लिये उत्सुक हो और दूसरा स्वतंत्र मजदूर, अर्थात् अपनी श्रम-शक्ति को बेचनेवाला मजदूर जिस के हाथ में न तो कोई निर्वाह का साधन हो और न उत्पत्ति का। इस प्रकार के दो मालिकों के संपर्क से पूँजीवादी उत्पादन की शर्त पूरी हो जाती है। पूँजीवादी प्रथा की सफलता के लिये यह अनिवार्य है कि श्रमिक-वर्ग के पास ऐसा कोई जरिया या साधन न रहे जिससे वे अपने श्रम या मेहनत का स्वतंत्र उपयोग कर सकें। इसलिये पूँजीवादी प्रथा के विकास के लिये

रास्ता साफ करनेवाली बात यही हो सकती है कि मजदूरों के हाथ से सारे सम्भव उत्पादनों के साधनों को छीना जाय। यह क्रिया एक ओर इन सामाजिक-उपयोग की वस्तुओं और साधनों को पूँजी का रूप दे देती है और दूसरी ओर तात्कालिक-उत्पादक या माल पैदा करनेवाले को मजदूरी पर काम करनेवाले का। जहाँ और जब इन कारणों का मुहय्या हुआ पूँजी का विकास और वृद्धि शुरू हुई।

उपरोक्त कारणों और परिस्थितियों का सिंहावलोकन करने के बाद हम इस निश्चय पर पहुँचते हैं कि पूँजीवादी समाज का यह आर्थिक ढाँचा सामंतवादी समाज के आर्थिक ढाँचे के भीतर से निकला है। सामंतशाही प्रथा का अन्त ने पूँजीवादी प्रथा के तत्वों और निमित्त कारणों को मुक्त कर दिया।

मजदूर या तात्कालिक उत्पादक तब तक अपने श्रम या शरीर की मेहनत को नहीं बेच सकता था जब तक कि जमीन से उसका नाता न टूटे। जब तक कि वह गुलामी, बन्धक या क्रीतदासे के कर्त्तव्य से छुट्टी या मुक्ति न पा ले। अपने श्रम या शरीर की ताकत को बेचने के लिये यह भी जरूरी था कि वह उन दिनों प्रचलित नगर के गिल्ड्स के बंधनों से भी आजाद हो। उनके नियम और पाबन्दियों से छुटकारा मिले। इसलिये जिस ऐतिहासिक आन्दोलन को हमने गुलामों, दासों या बन्धकों की मुक्ति का नाम दिया है, वही आन्दोलन समाज में सर्वहारा-वर्ग की उत्पत्ति और विकास का कारण भी बना। क्योंकि जीविका और निर्वाह के साधनों से वंचित होकर वे दर-दर अपने श्रम को बेचने के लिये लाचार हुए।

सामंतवाद की समाप्ति पर जब उनके निर्वाह और उदरपूर्ति की जिम्मेवारी लेनेवाला न रहा, वे जरिये न रहे तो वे क्या करते ? ऐसे साधन शून्य लोगों के पास एक ही रास्ता था कि वे अब अपनी मेहनत को बेचकर पेट पालें। निर्वाह के साधनों से इन्हें वंचित करने का इतिहास खून से लिखा गया है।

इन नये औद्योगिक पूँजीपतियों ने केवल नगरों के इन कला दस्तकारी के संगठनों को ही खत्म नहीं किया वरन् दौलत के साधनों के स्वामी इन सामंतों को भी खत्म किया। इस प्रकार उस समय के समाज में पूँजीपतियों का दुतर्फा लड़ाई लड़नी पड़ी थी। एक ओर कला, दस्तकारी के संगठनों (Gilds) द्वारा बनाये गये नियम और कानूनों का तोड़ने की लड़ाई और दूसरी ओर सामंतों के प्राधान्य और विशेषाधिकार को खत्म करना। क्योंकि ये दोनों वर्ग समाज में उन्मुक्त व्यवसाय के लिये बाधक साबित हो रहे थे।

अतः खेतिहरों और बन्धकों का दासत्व से मुक्ति पाना ही वह आरंभ बिन्दु है जहाँ से पूँजीवाद और शोषण की कहानी शुरू होती है। यहीं से सामंतवादी शोषण पूँजीवादी शोषण का रूप लेता है। इस पूँजीवादी उत्पत्ति की कहानी समझने के लिये हमें १४वीं और १५वीं शताब्दी के पन्नों को उलटना पड़ेगा। भूमध्य सागर के तटवर्ती नगरों में इसकी शुरुआत १६वीं सदी में होती है। जो कुछ भी हो बन्धक के रूप में खेतों में काम करने की रीति बहुत पहले ही इस नई प्रथा से प्रभावित हो चली थी और मध्य-कालीन विकास के प्रतीक बड़े-बड़े शहर अब खत्म-से हो रहे थे— उनके स्थान पर नये औद्योगिक शहरों का श्री गणेश हो रहा था।

आदि-संग्रह के इतिहास में किन-किन कारणों ने एक पृष्ठ-पूँजीवाद को लाकर हमारे सामने खड़ा किया उसका वर्णन नीचे किया जायगा । वे आन्दोलन जिनके कारण भूमिहर या जोता बिना जमीन के हो गया, साधन शून्य हो गया और जिसकी वजह से जन-समूह का एक बहुत बड़ा भाग अपने निर्वाह के साधनों से वंचित कर दिया और बाद में यही भाग सर्वहारा के रूप में खुले बाजार में अपने शरीर की मेहनत को बेचने के लिये छोड़ दिया गया ।

सामंतवादी और गिल्डवाद के प्रभाव को खत्म करने में बहुत से आन्दोलनों का हाथ है । क्योंकि वर्तमान पूँजीवादी समाज के बीज उसी दिन पड़ गये थे जिस दिन दासत्व को खत्म करके शसों और खेतिहरों को आजाद किया गया था । यहीं से सामंतवादी समाज पूँजीवादी समाज का रूपधारण करने लगा था । इस सामंतवादी और पूँजीवादी समाज के बीच की कड़ी है—‘आदि-संग्रह’ और इस आदि संग्रह के पोषक चार प्रधान कारण हैं :—

(१) खेतिहर-निष्कासन—आदि संग्रह के युग में सर्वहारा-वर्ग को बाजार में अपने श्रम को बेचने के लिये मजबूर करनेवाले प्रबल कारणों में पहला कारण था, उसका खेती से हटाया जाना । इस आदि-संग्रह (Primitive accumulation) की यही पृष्ठ-भूमि है । इस निष्कासन की अलग-अलग देशों में अलग-अलग कहानी हैं । भिन्न-भिन्न देशों में इन कारणों के क्रम में भी अन्तर है । कहीं कोई कारण पहले और कहीं कोई कारण बाद में पैदा हुआ । पर परिणाम सभी का एक ही था । समाज में धीरे-धीरे धनपतियों का प्रभाव बढ़ना । इन्हीं के हाथों में उत्पत्ति और निर्वाह के सारे

साधनों का केन्द्रित होते जाना । और तात्कालिक (Ultimate-producers) उत्पादक के हाथ में किसी साधन का न रहना ।

प्रथम कारण—सैकड़ों वर्ष पहले की बात है । १४वीं और १५वीं शताब्दी की । उस समय तक यूरोप में बन्धक (Serfdom) प्रथा धीरे-धीरे खत्म हो रही थी । छोटे-छोटे किसान जो अपने हाथ से खेती करते थे और साधारण जीविका कमा लेते थे—राष्ट्र के महत्वपूर्ण अंश थे । आबादी के ख्याल से भी यही सबसे ज्यादा थे । बन्धकों का स्थान शनैः-शनैः स्वतंत्र खेतिहर ले रहे थे । ऐसे खेतिहरों की आबादी सिर्फ इंगलैण्ड में १६०००० थी । १५वीं सदी के आखिर और १६वीं के शुरू में उस क्रान्ति की भूमिका के बीज पड़ना शुरू हो गये थे जिसने कि पूँजीवादी उत्पत्ति की नाँव डाली । जागीरदारों और सामंतों के अधिकार टूटने के कारण स्वतंत्र खेतिहरों को अपने खेत छोड़कर मजदूरी के बाजार में जाना पड़ा । और भी ऐसे कारण पैदा हुये जिनकी वजह से लोर्ड्स (भूपतिओं) ने छोटे-छोटे किसानों से खेत छीनकर उनको चारागाह में बदला, भेड़े रखना शुरू की, क्योंकि इनकी माँग इन दिनों बहुत बढ़ रही थी । इसलिये यूरोप में इन दिनों बड़े-बड़े खेत 'भेड़ों के रखने' के मैदान में बदलने लगे । पारस्परिक झगड़े और आरामतलबी ने भी इनकी जड़ों को और खोखला करना शुरू किया । इनके स्थान पर जिस नये वैभव-शाली वर्ग का जन्म हो रहा था वह अपने युग के अनुसार धन को ही शक्ति माननेवाला वर्ग था । यह वर्ग खेतिहर-वर्ग के प्रति बड़ा कठोर व्यवहार करता था । इस तरह समय के साथ खेती की जमीन चरागाहों में और फिर चरागाह धीरे-धीरे शिकारगाहों में बदलने लगे । और इस सब का असर यह हुआ कि साधारण खेतिहर-वर्ग

का यूरोप से लोप ही हो गया । यही वर्ग आगे चलकर श्रमिक वर्ग या सर्वहारा का रूप धारण करता है ।

दूसरा कारण—अनुकूल वातावरण और स्थिति दोनों बातें जब पूँजी के विकास को मिलती गईं तो फिर पूँजीवाद की जड़ मजबूत होने में देर ही क्या लगती । प्रथम कारण के सिवाय एक बात और थी जिसने वातावरण के अनुकूल बनाने में पूरा योग दिया । यह कारण या बात थी रिफारमेशन (Reformation) । कैथोलिक चर्चों को तोड़कर प्रोटेस्टेन्ट लोग अपना प्रभाव बढ़ा रहे थे । ईसाई धर्म के पुराने उसूलों के स्थान पर नये उसूल जड़ पकड़ रहे थे । इसलिये पुराने गिरजाघरों की सम्पत्ति को सरकार जब्त कर रही थी । उनसे लगी हुई जमीन भी छीनी जा रही थी । चर्च पादरियों का अपने जोता किसानों के साथ बड़ा नरम व्यवहार था । बहुत थोड़े लगान में ये चर्च की जागीरें किसानों को दी जाती थी । यह खेत पीढ़ी दर पीढ़ी तक किसानों के पास एक ही परिवार में चलते रहते थे । लेकिन पुराने गिरजाघरों की सम्पत्ति के साथ ही जमीनें भी छीनी जाने लगीं और इसके साथ ही पुराने जोता किसानों को भी दिया गया । वे सब अब पेट के लिए दर-दर भीख माँगने को लाचार हुए । इनमें से बहुत-से बाजार में जाकर मजदूरी करने लगे ।

पूँजीवादी उत्पादन के लिए पैसे से काम करनेवाले लोगों की आवश्यकता थी ही । अतः पहले-पहल बड़ी आसानी से यह समूह मजदूरी में खपता गया । क्योंकि यही लोग वास्तव में पूँजीवादी उत्पादन की सीढ़ी हैं और इनके श्रम साधनों का पूँजी में बदलना पूँजीवाद युग का अनिवार्य अंग है ।

खेतों से असली जोतों को निकालने का जो चक्र चल रहा था उसमें पच्छिम के इस सुधार-आन्दोलन (Reformation) ने और जोर पैदा कर दिया। पुराणपंथी-पादरियों की जमीनें छीनी जाने लगीं। यह सब जमीन राजा या उसके कृपा-पत्रों को दी जाने लगीं या एक साथ उस जमीन को नाम मात्र के लगान पर कुछ ऐसे कृषकों को दिया जाने लगा जो स्वयं उसे नहीं जोतते थे बल्कि कुछ अधिक लगान लेकर उसे छोटे किसानों को दे देते थे या मजदूरों से उसपर खेती करवाते थे। इस प्रकार पुराने चर्च के नाम पर मिली हुई गरीब किसानों की जमीन स्वयं सरकार द्वारा प्रोटेस्टेन्ट प्रथा के नाम पर छीन ली गई और इस सरकारी कानून ने समस्त इंग्लैण्ड को भिखमंगों और भुखमरों का एक देश बना दिया। इस अवस्था ने आगे चलकर इंग्लैण्ड में गरीब कानून (Poor laws) के लिए जमीन तैयार की थी। अतः हम यह कह सकते हैं कि दुनिया में गरीबी और पूँजीवाद को बढ़ानेवाले कारणों में 'रिफारमेशन' एक अपना अलग हिस्सा है।

तीसरा कारण—तीसरा कारण जिसने यूरोप में इस बढ़ते हुए अभिशाप को और ज्यादा ताकत दी थी—या 'विलियम आरेंजे' का इंग्लैण्ड के सिंहासन पर बैठना। इनके सिंहासन पर बैठते ही देश में बहुत-से बड़े-बड़े जमीन्दार और पूँजीवाले कुछ लोग आगे आए। अपनी ताकत के जोर से सरकार से अपने पक्ष में कानून पास करवाये। जमीन पर अपने 'स्थायी-स्वामित्व' के कानून को पास करवाकर व्यक्तिगत पूँजी को जन्म दिया। इससे पहले सम्पत्ति और जमीन राज्य की मानी जाती थी। सरकार ही उसका अन्तिम

स्वामी थी। पर विलियम के समय में जमीन-जायदाद पर व्यक्ति की मुहर लगाकर उसे गरीब जनता को अधिक चूसने का एक साधन बना दिया गया। यहाँ से धीरे-धीरे यूरोप के दूसरे देशों में भी यह रोग पहुँचा और इस तरह सारे महाद्वीप ने स्वावलम्बी, उत्फुल्ल स्वस्थ गाँवों को बड़े-बड़े भूपतियों और धनपतियों के हाथ से बेच दिया। गाँवों से निकल-निकलकर भूखी जनता रोटी की खाँज में शहरों की ओर दौड़ी। गाँव बरबाद होते गये। शहर बढ़ते गये। यह सब कुछ यूरोप तक ही सीमित नहीं रहा वरन् हिन्दुस्तान में भी यह रोग आया और इसी कारण आज यहाँ एक ओर आपको गरीब, रोग-युक्त गन्दे गाँव मिलेंगे और दूसरी ओर कलकत्ता बम्बई, दिल्ली जैसे दौलत और साधनों के केन्द्र बड़े शहर दिखलाई देंगे।

जुल्म को आगे चलकर कानूनी शकल देने का काम पार्लियामेन्ट के विधानों से लिया गया। मनमाने ढंग से मनमाने दामों पर काम ले सकने के सारे अधिकार इंगलिश-कानून ने इन धनपतियों के हाथ में सौंप दिये। दारुण-व्यथा की यह रक्त-रंजित कहानी कानून की कलम से १५वीं सदी के आखिर से लेकर बहुत दिनों तक बराबर लिखी जाती रही। साधनहीन जनता को कानून के जोर से भीषण और भयंकर स्थिति में काम करने के लिये मजबूर किया जाता था। राज्य से भी ऊपर इन सर्वहारा के जीवन पर काम लेकर कुछ पैसे देनेवाले मालिक का अधिकार कानून मान्य किया गया। और यह सब वहाँ हुआ और होता रहा जो आज अपने को 'मानवता' का जन्मदाता मानता है। हेनरी अष्टम, एडवर्ड षष्ठ, एलिजाबेथ, जेम्स प्रथम, जार्ज द्वितीय सभी अन्याय और शोषण की इस प्रथा

पर अपनी मुहर लगाते गये । आखिर में जुल्म और पशुता के इस कानून को पहली बार पार्लियामेन्ट ने सन् १८७१ में ट्रेड-यूनियन-विधान को पास करके खत्म किया ।

इस प्रकार पूँजीवाद के बढ़ने की लम्बी कहानी पाठकों के सामने आती है । सैकड़ों वर्ष लगे हैं पूँजीवाद को अपने पूरे यौवन में आने के लिए । इसकी जिन्दगी की पहली कड़ी (Agricultural-capitalist) खेतिहर-पूँजीवादी से आरम्भ होती है । सामंत और बैरेन्स के खंडहरों के ऊपर बड़े-बड़े भूपतियों और जमींदारों के महल बने । और इन भूपतियों ने अपनी जमीन पर सर्वहारा-वर्ग से काम लेना शुरू किया । अन्त में औद्योगिक-युग आने तक इन लोगों ने पर्याप्त धन इकट्ठा कर लिया था और यही धन बाद में बड़े-बड़े उद्योग-धन्धों में लगा और यही आगे चलकर (Industrial capitalist) 'औद्योगिक-पूँजीवाद' का कारण बना ।

आज के औद्योगिक-पूँजीवाद का जन्म इस तरह आदि-संग्रह के एक लम्बे घटनाक्रम के भीतर से हुआ है और इसको पूर्णता तक पहुँचाने में उपनिवेश प्रथा (Colonisation) ने काफी हाथ बँटाया है । अमेरिका में सोने-चाँदी की खदानों का मिलना, खदानों के लिए गुलाम और आजन्म बन्धक के रूप में आदिम लोगों को रखना, पूर्वी द्वीप-समूह की विजय और लूट, काले लोगों की व्यावसायिक-शिकार के लिए अफ्रिका के क्षेत्र का खुलना आदि बातें पूँजीवादी उत्पत्ति के काले प्रभात का सूचक हैं । ये घटनायें आदि-संग्रह की शृंखला की प्रधान कड़ियाँ हैं । यों तो औद्योगिक-पूँजीवादी का विकास इस सिलसिले से नहीं हुआ जिस सिलसिले से पूँजीवादी किसान का (Capitalist Agriculturist) । पूँजीवादी किसान

इतिहास और समाज की २०० वर्षों की घटनाओं का परिणाम है। इसका आरम्भ १४वीं सदी में हुआ और यह १७वीं सदी तक बराबर चलता रहा। निसंदेह छोटे-छोटे गिल्ड-मास्टर, स्वतन्त्र कारीगर और कहीं-कहीं मजदूर लोग भी छोटे मामूली पूँजीपति बने और पूँजीपतियों को यह छोटी शकल कुछ दिनों बाद बड़े पूँजीपतियों की शकल में बदल जाती है। लेकिन इस मध्यकालीन पूँजीवाद की शुरू-शुरूमें दो शक्तें सामने आती हैं :—(१) व्याज पूँजी (Userer's Capital) और (२) व्यवसाय-पूँजी (Merchant's Capital)।

इन दो संगृहीत पूँजियों को बहुत दिनों तक औद्योगिक-पूँजी बनने से देहात में फूँडल-प्रथा ने और शहरों में गिल्ड-कानूनों ने रोके रखा। लेकिन पूँजीवादी विकास के मार्ग की यह कानूनी रुकावटें सामंतवाद के विनाश और कृषकों के निष्कासन से दूर होती गईं। ये नये उत्पादक-केन्द्र समुद्र के किनारे पर या घुर-देहात में बनना शुरू हुआ जहाँ पुरानी ग्राम-पंचायत और गिल्ड के अधिकार की छाया तक न पहुँच सकती थी।

हम जिस कहानी की बात कह रहे हैं वह आगे-पीछे यूरोप के सभी देशों में चालू हो चुकी थी। हालेण्ड, पुर्तगाल, स्पेन, फ्रांस और इंग्लैंड इस नाटक के प्रधान पात्र थे और बाद में इसके असर की हवा से एशिया के देश भी बचे न रह सके। हिन्दुस्तान, जापान, आदि देशों ने भी अपनी आर्थिक रचना का पूँजीवाद के आधार पर निर्माण करना शुरू कर दिया। और आज तो अनेक देश का वह पुराना स्वस्थ कलेवर पूँजीवाद के इस क्षय से नष्ट हो चुका है। ग्राम्य जीवन का आनन्द, पारस्परिक-सहयोग भावना, घी-दूध की नदियों

की बात, सोने की चिड़िया आदि वाक्य अब अतीत की कहानी-
मात्र रह गये हैं। फिर से देश में सुख, शान्ति और स्वास्थ्य लाने
के लिए हमें मिलकर नये सिरे से अपने समाज की अर्थ-नीति को
नौव रखनी होगी। इस नयी अर्थ-नीति की बात अगले सफों में
लिखी जायगी।

पैसा और पूँजी

(१) पूँजीवादी-व्यवस्था के विकास और फैलाव में दो खास तत्वों का योग रहा है। यों तो बाहरी हालत तो पक्ष में रहे ही, पर पूँजीवाद सिर्फ सामंतशाही के खात्मे से ही बढ़ नहीं जाता, अगर उसे आगे बढ़ाने के लिए श्रम और लाभ (अतिरिक्त मूल्य) की व्यवस्था न हुई होती। एक बार इसकी जड़ पड़ने के बाद जैसे-जैसे बड़े कामों के लिए मेहनत करके खानेवाले इन्सान और काम के बाद लाभ मिलता गया, वैसे-वैसे पूँजीवाद का रूप बढ़ता गया। अतः पूँजीवाद के विकास-क्रम को भली प्रकार समझने के लिए पूँजी या यह अतिरिक्त मूल्य है क्या, कहाँ से और कैसे आता है ? इसे समझना जरूरी है।

(२) एक बात और है। प्रायः हमारे साथी अभी तक पूँजी और पैसे का अन्तर समझ नहीं पाये हैं और इसलिए जिस व्यक्ति के पास १०-१२ हजार रुपये खाने-पहनने के लिए हुए कि उसे उन्होंने चट 'पूँजीपति' को संज्ञा दे डालो। पूँजीपति के अर्थ उनको समझ में है—जिस आदमी के पास पैसा हो और पैसे को ही वह पूँजी मानते हैं, इसलिए हर पैसेवाला उन ही निगाह में पूँजीवाला बन जाता है। आज जरूरत इस बात की है कि हम इन भेदों को अच्छी तरह समझें, क्योंकि जबतक एक बात को हम ठीक तरह से समझ नहीं लेते, तबतक हमारा प्रचार भी गलत हो सकता है और ऐसा होने से पार्टी के कार्य में बाधा पड़ सकती है। अतः यहाँ हम निम्नलिखित से पूँजी और पैसे का अन्तर समझेंगे।

1

(३) पूँजीवाद के फलने-फूलने के तीन तरीके या रास्ते रहे हैं—
 (१) सूदखोरी (Userer's Capital) अर्जित पूँजी, (२) व्यावसायिक पूँजी या रोजगार की पूँजी (Merchant's Capital), (३) औद्योगिक-पूँजी (Industrial Capital) । यह तीन शक्तें हैं, जिनसे मूल-पूँजी उत्तरोत्तर बढ़ती रहती है और अपनी प्रत्येक सर्किल से हमेशा बढ़ी हुई निकलती है । इस पूँजी का एक-एक चक्र एक नयी पूँजी को जन्म देता है और यह नयी पूँजी नये व्यवसाय या उद्योग को इस तरह थोड़े समय में ही, जहाँ पहले-पहल एक पूँजीवाला होता है, कुछ समय के बाद ऐसे पूँजीवालों का एक जाल तेजी से बढ़ता हुआ नजर आता है ।

(४) प्रथम प्रकार में (यानी सूदखोरी में) पैसा पैसे के ही रूप में एक हाथ से दूसरे हाथ में जाता है और जब तक उस हाथ में रहता है, हमेशा नया पैसा या पूँजी अपने मालिक के पास भेजता रहता है । कभी-कभी यह सूद के रूप में लिया गया पैसा मूल पूँजी या धन से भी अधिक हो जाता है । मूल धन या मूल पूँजी को इस प्रकार सूद पर देने का प्राचीनकाल में बहुत रिवाज था और सूद की दर भी बहुत होती थी । आजकल इस प्रथा का पूँजीवाद के विकास में कम-से-कम हाथ है ।

(५) दूसरा प्रकार यानी व्यावसायिक पूँजी औद्योगिक पूँजी का एक अनिवार्यपूरक है । उद्योग-धन्धों में लगायी गयी पूँजी बढ़ती है । उद्योग द्वारा प्राप्त वस्तुओं के विक्रय से और विक्रय बढ़ेगा जब कि इसे बढ़ानेवाला व्यापारी-वर्ग होगा, इसलिए व्यावसायिक पूँजी का अन्तर्गत रूप बढ़े पैमाने पर बढ़ती करनेवाले लोगों में या किसी चीज में

रोजगार करनेवाले लोगों में मिलेगा। प्रत्येक क्रय-विक्रय की क्रिया के बाद लगी हुई पूँजी और अधिक पूँजी लाती है। यानी खरीद-मूल्य से ज्यादा पैसा व्यापारी को मिलता है। यह बढ़ा हुआ धन हमेशा नयी पूँजी को जन्म देता है।

(६) सबसे आखिरी और सबसे ताकतवर प्रकार है—औद्योगिक-पूँजी। आज सारे देशों में इसी का बोलबाला है। जिस देश में जितनी मिलें या कारखाने होते हैं, पूँजी का विकास वहाँ उतना ही अधिक होता है। पूँजीवादी प्रथा में सबसे अधिक पूँजी पैदा करने का यही एक रास्ता है। पूँजीवादी विकास में पूँजी के विकास की यह आखरी सीढ़ी है।

(७) ऐतिहासिक दृष्टि से देखें तो मालूम होगा कि तारीखबार विकास के खयाल से भी पूँजी के विकास का यही क्रम रहा है। पूँजीवाद के शैशवकाल में लोगों ने सूद से ही अधिक पैसा बढ़ाया। खर्चीले सामानों को व्यापारियों और बनियों ने बढ़े-चढ़े व्याज पर रुपया दे-देकर उनकी सारी सम्पत्ति ही कब्जे में कर ली। हमारे देश में भी पिछले दिनों में साहूकारी का बोलबाला था। सेठ शब्द के पीछे सूद या व्याज की परम्परा का ही बोध होता है। छोटे-छोटे देहातों में खान, पालीवाल, महाजन, व्योहरे आदि इसी घृणित शृंखला की कड़ियाँ हैं। व्यावसायिक पूँजी की परम्परा बाद में बढ़ी और वह भी सिर्फ रोजगार (Trade) के क्षेत्र में। आगे चलकर यह और अधिक व्यापक और स्थायी हो गयी। पूँजीवादी विकास की शृंखला में 'औद्योगिक-पूँजी' तो सबसे अन्तिम और सबसे

सबसे अधिक भयंकर बनाया। इसके बाद वैज्ञानिक रूप से पूँजी के विकास की अब कोई अवस्था बाकी नहीं रही, इसलिए अनिवार्यतः ऐसी स्थितियाँ पैदा होंगी, जो किसी नयी और श्रेष्ठ नवीन सामाजिक व्यवस्था को जन्म देकर इतिहास को पुनरावृत्ति करेंगी।

(८) प्रथम प्रकार की पूँजी (Userer's Capital) में चलन या पूँजी के विकास की रीति बिल्कुल साधारण है। पैसा जाता है और बढ़कर आता है। उसे दो ही हाथों या घरों की यात्रा करनी पड़ती है। इसलिए सूद पर दिये गये पैसे की वृद्धि कैसे होती है, उसकी पूँजी कैसे बनती है, यह समझना बहुत सरल है।

(९) पूँजीवाद के मूल रहस्य को कहानी व्यावसायिक पूँजी (Merchant's Capital) से शुरू होती है। इसलिए पूँजीवाद के इस रहस्य को समझने के लिए यह देखना है कि दुनिया में पदार्थों या वस्तुओं (Commodities) का चलान किस-किस उद्देश्य से होता है। क्योंकि यह बात मानो हुई है कि इन वस्तुओं (Commodities) के अपने स्थान बदले बिना लाभ हो ही नहीं सकता और बिना लाभ के पूँजी की वृद्धि कैसे होगी? पर मार्क्सवाद के अध्ययन में हमने यह भी देखा कि वस्तुएँ हमारा लाभ के उद्देश्य से ही अपनी जगह नहीं छोड़तीं। कभी-कभी जगह बदलने में हमारी जरूरत का भी सवाल रहता है। अतः माटे तौर पर यह मान सकते हैं कि वस्तुओं के जगह छोड़ने या चलन में दो प्रधान उद्देश्य रहते हैं, (१) राजाना को जरूरत याता आ-पूँजीवादी समाज में एक व्यक्ति एक चीज पैदा करता है। और अगर उसे उस चीज की जरूरत नहीं है या जरूरत

की चीज खरीद लेता है। इस प्रकार यदि एक किसान के पास ज्यादा गल्ला है, तो वह उसे बेचकर कपड़े खरीदता है। इस प्रकार पदार्थों के वस्तु-चक्र को (Commodity Circulation) आप सूत्र-रूप में हम इस प्रकार रख सकते हैं। व-पै-व (वस्तु-पैसा-वस्तु) इस प्रकार के निमित्त या बदले में लोग अनावश्यक चीजों को आवश्यक चीजें खरीदने के लिए बेचते हैं।

(१०) उपर्युक्त प्रकार के सिवाय पूँजीवाद समाज में एक नये व्यावसायिक वस्तु-चक्र का श्रोगणेश हुआ। पर इस पूँजी में वृद्धि कैसे होती है? पाठक यह जानने के लिए उत्सुक होंगे। पूँजी के आदि-संग्रह में पूँजी के प्रति आरम्भिक रूप की व्याख्या की गयी है। इस आदि-संग्रह के युग में अर्जित या बचायी हुई पूँजी से ही पूँजीवाद ने अपनी पहली यात्रा शुरू की और एक बार यात्रा पर निकलने के बाद फिर तो दिन-दूनी रात-चोगुनी बढ़ती गयी। अब सुनिये यह पूँजी कैसे बढ़ी? ऊपरवाले अनुच्छेद में यह बतलाया गया है कि वस्तुओं का प्रथम चलन किस उद्देश्य से हुआ? और यह चलन का दूसरा उद्देश्य है। इस क्रिया में कुछ पैसैवाले लोग अपने पैसे से कुछ पदार्थ या वस्तुएँ खरीदते हैं, लेकिन इन वस्तुओं को वे इसलिए खरीदते हैं ताकि वे उन्हें बेचकर अधिक पैसा पा सकें। इस पूँजीवादी वस्तु-चक्र को हम संक्षेप में इस तरह रख सकते हैं—पै-व-पै (पैसा-वस्तु-पैसा)। विचार करने पर मालूम होगा कि इस प्रकार का व्यावसाय पूँजीवादी हमेशा करता है। इस प्रकार के खरीद में बेचने का उद्देश्य प्रधान रहता है। एक प्रकार से बेचने के लिए ही यह खरीद होती है। वस्तु-चक्र (Commodity Circulation)

tion) की यह प्रणाली पहले प्रकार के रीति से बिलकुल भिन्न है, जहाँ कुछ खरीदने के लिए कुछ बेचा जाता है। लेकिन इस नये पूँजीवादी तरीके में अगर आखिर में अधिक पैसा न मिला तो सब परिश्रम व्यर्थ हो जाता है। सिर्फ उपकार या दिल-बहलाव के लिए व्यापारी जितने में कोई चीज खरीदे उतने ही में उसे नहीं बेचता। इस सारे व्यवसाय का केन्द्र या प्रधान उद्देश्य होता है—दाम या मूल्य-पूँजी में वृद्धि।

(११) अब यह स्पष्ट हो गया है कि वस्तु या पदार्थ के चलन या यात्रा में दो उद्देश्य होते हैं (१) सीधे उपयोग या आवश्यकता के लिए एक वस्तु दूसरी वस्तु में बदल जाती है। हम एक अनावश्यक वस्तु को बेचकर दूसरी आवश्यक वस्तु खरीदते हैं। व-पै-व सिर्फ खरीदने के लिए बेचना। इसके विपरीत पै-व-पै (पैसा-वस्तु-पैसा) में खरीदना सिर्फ बेचने के लिए होता है। दोनों प्रकार की क्रियाओं में बहुत अन्तर है। यही वह अन्तर है, जो पैसे को पूँजी का रूप देता है। दूसरे प्रकार को और अधिक नजदीक से समझने के लिए यह देखना जरूरी है कि पैसे से जो वस्तु या पदार्थ खरीदा जाता है, उसी को फिर पैसे में बदलते हैं, यानी इस क्रम से यह सिद्ध होता है कि पैसा पैसे से बदला जाता है और यह पैसे से आरम्भ होनेवाली क्रिया पैसे में ही समाप्त हो जाती है (पै-व-पै) उदाहरण के लिए, किसीने एक मन गेहूँ १०) में खरीदा और फिर इसी एक मन गेहूँ को १५) के मूल्य से विनिमय किया। इस क्रिया में पहली पूँजी ५) से बढ़कर आती है।

(१२) एक बात और समझना जरूरी है। यह क्रम और व्यापार

— १ २ — — — — — ३ — ४ — ५ — ६ — ७ — ८ — ९ — १० — ११ — १२ — १३ — १४ — १५ — १६ — १७ — १८ — १९ — २० — २१ — २२ — २३ — २४ — २५ — २६ — २७ — २८ — २९ — ३० — ३१ — ३२ — ३३ — ३४ — ३५ — ३६ — ३७ — ३८ — ३९ — ४० — ४१ — ४२ — ४३ — ४४ — ४५ — ४६ — ४७ — ४८ — ४९ — ५० — ५१ — ५२ — ५३ — ५४ — ५५ — ५६ — ५७ — ५८ — ५९ — ६० — ६१ — ६२ — ६३ — ६४ — ६५ — ६६ — ६७ — ६८ — ६९ — ७० — ७१ — ७२ — ७३ — ७४ — ७५ — ७६ — ७७ — ७८ — ७९ — ८० — ८१ — ८२ — ८३ — ८४ — ८५ — ८६ — ८७ — ८८ — ८९ — ९० — ९१ — ९२ — ९३ — ९४ — ९५ — ९६ — ९७ — ९८ — ९९ — १०० —

में ही बदले । इसलिए इस बात की परीक्षा करना आवश्यक है कि इन दो विनिमयों की क्रियाओं में पै-व-पै और व-पै-व में क्या अन्तर है ? विश्लेषण करते समय अवस्थाओं में जो अन्तर है, वह स्वतः स्पष्ट हो जायगा ।

(अ) पहला अन्तर इन दोनों प्रकार की क्रियाओं में यह है कि दोनों का क्रिया-चक्र (Action of Circulation) एक दूसरे से उल्टा है । पहली में चलन क्रिया या मात्रा बिक्री से शुरू होती है और खरीद में खत्म होती है, जबकि पूँजी के (दूसरी क्रिया में) चलन में यह क्रिया खरीद से आरम्भ होती है और बिक्री में खत्म होती है । पहली में आरम्भ-स्थल और लक्ष्य दोनों ही वस्तु या पदार्थ हैं । और दूसरे में पैसा ।

(ब) दूसरा अन्तर यह है कि साधारण चलन क्रिया व-पै-व में पैसा अन्त में वस्तु में परिवर्तन हो जाता है । यह वस्तु हमारे लिए अपना उपयोग-मूल्य (Use Value) रखती है और इसमें लगा हुआ पैसा हमेशा के लिए खर्च हो जाता है । दूसरी अवस्था में पै-व-पै में खरीद करनेवाला पैसा इसलिए लगाता है कि वह उस पैसे को फिर प्राप्त कर सके । वस्तु के रूप में वह अपना पैसा चलन में डाल देता है इसलिए कि उसी वस्तु को बेचकर वह फिर पैसे को (कुछ अधिक संख्या में) पा सके । इसलिए इस क्रिया में लगा हुआ पैसा हमेशा के लिए खर्च नहीं होता । व-पै-व की क्रिया में पैसा दो बार अपनी स्थिति बदलता है । पहले बेचनेवाले को खरीदनेवाले से पैसा मिलता है और उस पैसे को वह किसी दूसरे बेचनेवाले को दे देता है । जो चलन का क्रिया 'प्राप्ति में' एक मोड़ के रूप में

‘चुकता’ में खत्म हो जाती है। लेकिन पै-व-पै की क्रिया में बिलकुल चला होता है। यहाँ पैसे को अपनी जगह दो बार नहीं बदलनी होती, बल्कि वस्तु को खरीदनेवाला वस्तु का बेचनेवाले से खरीदता है और फिर इसे किसी दूसरे खरीदनेवाले को दे देता है। पर इस बीच में पैसे की मात्रा पर प्रभाव पड़ता है। यह क्रिया पैसे की मात्रा को बढ़ा देती है। यहाँ दोनों अवस्थाओं का अन्तर पैसे का सिर्फ पैसे के रूप में चलन और पैसे का पूँजी के रूप में चलन साफ हो जाता है।

[द] व-पै-व वाली क्रिया में जैसे ही बिक्री द्वारा प्राप्त पैसा नयी वस्तु को खरीद में लगा, चलन क्रिया एकदम बन्द हो जाती है। और ऐसी अवस्था में खर्च किया हुआ पैसा वृद्धि का कारण नहीं होता। दूसरी ओर पै-व-पै क्रिया में खर्च का प्रकार स्वयं वृद्धि का द्योतक होता है अर्थात् हम कोई वस्तु इसलिए खरीदते हैं कि बेचते समय कुछ अधिक पैसा मिले। बिना इस वृद्धि के सारी क्रिया असफल हो जाती है।

[य] साधारण व-पै-व वाली क्रिया में चलन एक वस्तु से शुरू होता है और दूसरी वस्तु में खत्म होता है—यह वस्तु उपयोग में बदल जाती है। खपत या आवश्यकता को पूर्ति या उपयोग-मूल्य इस क्रिया का उद्देश्य लक्ष्य होता है। इसके विपरीत पैसा-वस्तु-की क्रिया-पैसा पैसे-से शुरू होकर पैसे में खत्म हो जाती है। इसका प्रधान उद्देश्य वित्तीय मूल्य (Exchange Value) होता है।

[र] वस्तु के साधारण चक्र में दोनों ओरों का एक ही आर्थिक रूप है। दोनों पदार्थ या वस्तु हैं। एक ही मूल्य के पदार्थ दोनों की उपयोगिता हैं परन्तु उपयोगिता के नाम भिन्न हैं। उनमें मूल्य,

वाचक भिन्नता है। परन्तु पै-व-पै की क्रिया में उल्टा परिणाम होता है। दोनों का एक ही आर्थिक रूप है। पैसा पैसे से बदला जाता है, पर पैसे के गुणों में कोई फर्क नहीं होता। दोनों छोरों पर पैसा पैसा ही बना रहता है। लेकिन पहले छोर की अपेक्षा आखरी छोर पर पैसा अधिक आता है—जिसका पैसा लगाया गया था, उससे अधिक मिलता है। १०) के गोहूँ १५) में बेचे जाते हैं। इस क्रिया का नतीजा यह होता है कि पै-व-पै यहाँ पर मूल धन + बढ़ा हुआ धन, मूल धन से अधिक बढ़ा हुआ पैसा अतिरिक्त मूल्य का रूप लेता है। अतः यहाँ दोनों छोरों में अन्तर हो जाता है, पर वह अन्तर मात्रा का है—संख्या-वाचक है। इस बढ़े हुए १५) को यदि हम खर्च कर दें, तो उनका पार्ट खत्म हो जाय, लेकिन पहला पैसा अपने बढ़े हुए बल के साथ फिर नयी यात्रा करने को बाजार-रूपी रंगमंच पर आता है। फर्क इतना है कि पहले वह ताकत सिर्फ १०) की थी और इस बार १५) की है। इसलिए इस दूसरे प्रकार के चक्र (Circulation) में जिसमें खरीद आखिर बिक्री में बदलती है—हर एक यात्रा की समाप्ति का स्थान नयी यात्रा शुरू होने का स्थान बन जाता है। इसलिए पूँजी के चलन या चक्र का कोई अन्त नहीं होता।

इस क्रिया का प्रधान अभिनेता जिसके पास पैसा है, स्वयं पूँजी-पति बन जाता है और क्रिया के प्रारम्भ और अन्त का उद्देश्य अधिक-से-अधिक धन-संग्रह हो जाता है। इसलिए पूँजीवादी की निगाह में वस्तुओं के उपयोगी मूल्य का कोई अर्थ नहीं होता। इसके विपरीत 'लाभ-शुभ' इस व्यवसाय का साध्य बन जाता है।

[ल] वस्तुओं के साधारण चक्र में यानी जहाँ वस्तुएँ चलन के

बाद 'पैसे का रूप धारण कर लेती हैं' और वह पैसा सिर्फ 'विनिमय' के काम में आता है, क्रिया के अन्तिम परिणाम के साथ ओम्फल हो जाता है। लेकिन पै-व-पै के चलन में पैसा और वस्तु दोनों उपयोग की दो शकलों का प्रतिनिधित्व करते हैं। पैसा इसकी साधारण आम शकल है और वस्तु विशेष। यह एक शकल से दूसरी शकल में हमेशा बदलता रहता है। बाजार के चलन में कभी वह आपको गेहूँ के रूप में दिखलायी देगा, कभी कपड़े की शकल में। और कभी रुई की शकल में। इस प्रकार हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि पूँजी पैसा है; पूँजी वस्तु है। इस सारी क्रिया में मूल-मूल्य हमेशा बढ़ता रहता है और एक क्रिया के बाद अतिरिक्त मूल्य भी मूल-पूँजी का रूप धारण कर लेता है। इस गति में 'मूल्य' एक सक्रिय भाग लेता है। और यही मूल्य कभी पैसे और कभी वस्तु का रूप लेता रहता है। लेकिन प्रत्येक बार यह अपने अस्तित्व को बराबर कायम रखता है और उसे बढ़ता भी जाता है। और यह अस्तित्व 'पैसे' की शकल में हमेशा छिपा रहता है। इसका आरम्भ (१०) से होता है और अब यह (१५) हो जाता है और इसी प्रकार चलता हुआ बढ़ता रहता है और बढ़ता हुआ चलता रहता है।

पैसा पैसा पैदा करता है—यह उस पूँजी का वर्णन है, जिसे कि व्यावसायिक पूँजी का नाम दे सकते हैं। खरीदना बेचने के लिए यानी खरीदना अधिक पैसों में बेचने के लिए। पै-व-पै का यह सूत्र इस प्रकार की व्यावसायिक पूँजी पर लागू होता है।

(१३) अब हम पूँजी के उस आधुनिकतम रूप को लेते हैं जिसे अर्थशास्त्र में 'औद्योगिक पूँजी' के नाम से पुकारा जाता है और

जो पूँजीवाद के विकास की आखिरी मंजिल है। ऊपर के अनुच्छेदों में हमने यह देख लिया कि सूदखोरी और व्यावसायिक पूँजी में पैसा कैसे बढ़ता है ? अब इस पूँजी में लागत मूल्य में कैसे वृद्धि होती है, इसे देखना है। क्योंकि यहाँ पूँजी को वृद्धि में व्यापार प्रधान नहीं है, उत्पादन प्रधान है। इस उत्पादन को जितने कम खर्चे में उद्योग-पति करा ले, उतने ही अधिक लाभ का वह अधिकारी हो जाता है। इस उद्योग में लगायी गयी पूँजी से अधिक जो पैसा आता है, उसे मार्क्स ने अतिरिक्त मूल्य द्वारा अर्जित पूँजी की संज्ञा दी है। इस पूँजी का एक हिस्सा तो वह अतिरिक्त मूल्य से बचाता है और कुछ अतिरिक्त श्रम से।

लेकिन फिर सवाल उठता है कि यह अतिरिक्त पैसा आता कहाँ से है ? मार्क्स ने इसके अलावा कीमत को अतिरिक्त मूल्य (Surplus Value) का नाम दिया है। मार्क्स का कथन है कि पूँजीवादी बाजार में और चीजों के साथ-साथ 'श्रमशक्ति' नाम की एक बड़ी अजीब वस्तु पाता है। यह वस्तु मजदूरों की काम करने की योग्यता या क्षमता है। दूसरे शब्दों में इसे इस तरह कह सकते हैं कि पूँजीपति को बाजार में कुछ ऐसे स्त्री-पुरुष मिलते हैं जो उसके लिए काम करने को तैयार हैं बशर्ते कि उन्हें अपनी अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कुछ मजदूरी मिले। और यह मजदूर उस निश्चित समय में उस पूँजीपति के लिए अपनी आवश्यकताओं की कीमत से कहीं अधिक मूल्य की चीजें पैदा कर सकते हैं। आप फिर सवाल उठा सकते हैं कि तब यह मजदूर स्वयं अपने लिए ही काम क्यों नहीं करते ? इसका जवाब साफ है कि वे अपने लिए नहीं करते, नहीं कर सकते; क्योंकि उनके पास उत्पत्ति के उन साधनों

का अभाव है, जिसके बिना वे काम कर' नहीं सकते। पूँजीवादी समाज में करोड़ों ऐसे लोग हैं जो खेत, कारखाना या खदानों में अपने लिए काम करने को नहीं पहुँच सकते। इसलिए मजबूरन उन्हें इन साधनों के मालिकों के पास उनके लिए ही काम करना पड़ता है। मार्क्स का एक और कहना है कि 'पूँजी' की उत्पत्ति बाजार में इतनी नहीं होती जितनी कि वास्तविक उत्पादन के स्थानों में, जैसे—सूत-मिल, खदान, खेत या मिल में।

(१४) अतिरिक्त श्रम—ऊपर हमने संकेत किया है कि बाजार में अन्य वस्तुओं के साथ-साथ खरीदनेवाले या पूँजीपति को एक 'श्रमशक्ति' नामक वस्तु भी मोल मिलती है। इस 'श्रम-शक्ति' के मालिक ऐसे लोग हैं जिनके पास उत्पत्ति या पैदावार का कोई खुद का साधन नहीं है अर्थात् जिनके पास न जमीन है, न बैल है और न आवश्यक साधन, जैसे—पैसा, मशीन इत्यादि। ऐसी हालत में उन्हें अपने निर्वाह के लिए दूसरों के यहाँ जाकर काम करना पड़ता है। इस काम को करने की एवज में पूँजीपति उन्हें सिर्फ इतनी मजदूरी देता है जिससे वह किसी तरह काम करने लायक बना रहे। यानी फ़कत निर्वाह-मूल्य लेकर श्रमिक पूँजीपति के यहाँ जाकर काम करता है। यह फ़कत निर्वाह आजकल के जमाने में और उन्नत साधनों के साथ सिर्फ दो घंटे में निकाल लेता है। मतलब यह हुआ कि इस प्रकार के अगर कोई श्रमिक १२ घंटे प्रति सप्ताह काम करे, तो वह इतने पैसे अपने काम से पैदा कर देता है कि उसकी मजदूरी निकल आवे। लेकिन, जैसा कि हम और आप जानते हैं, एक मजदूर को किसी भी उद्योग-धन्धे में ८-१० घंटे काम करना पड़ता है यानी प्रति-

दिन दो घंटे अपने लिए काम करने के बाद बाकी ६ या ८ घंटे वह मालिक के लिए काम करता है। प्रति सप्ताह अपने मालिक को वह इस तरह लगभग ३० घंटे का ऐसा श्रम देता है जिसकी कि मजदूरी उसे नहीं मिलती। अर्थात् अपने निर्वाह-मूल्य के अतिरिक्त प्रति सप्ताह अपने स्वामी को ३६ घंटे का 'अतिरिक्त श्रम' देता है। इस अतिरिक्त श्रम से जो कुछ पैदा होता है, वह मालिक का होता है। इस प्रकार से इस 'अतिरिक्त श्रम' की प्राप्ति रोजाना कितने मजदूरों से मालिक को होती होगी ? और इस प्रकार कितना पैसा रोजाना उन्हें बचता होगा ?

(१५) **अतिरिक्त मूल्य**—प्रत्येक वस्तु या तो उपयोग-मूल्य रखती है या विनिमय-मूल्य। इन्हीं दो शब्दों पर आज का अर्थशास्त्र खड़ा है। प्रत्येक उपयोगी वस्तु में दो तत्व काम करते हैं—(१) माल (material) और (२) श्रम (labour)। इन दो के मेल से प्रत्येक उपभोग-वस्तु तैयार होकर बाजार में आती है। प्रत्येक 'श्रम' व्यक्ति की मेहनत करने की ताकत का एक हिस्सा होता है। अब हम देखते हैं कि हमारे पूँजीपति के सामने दो उद्देश्य होते हैं—(१) वह एक उपयोगी वस्तु तैयार करना चाहता है जिसे कि वह बाजार में बेच सके, (२) वह ऐसी उपयोगी वस्तु तैयार करना चाहता है जिसका कि विनिमय-मूल्य उस वस्तु के लागत मूल्य से अधिक हो। उसका उद्देश्य सिर्फ 'उपयोगी वस्तु' (use value) तैयार करना ही नहीं, वरन् एक विक्रय-वस्तु तैयार करना रहता है। सिर्फ उपयोग-वस्तु नहीं, वरन् विनिमय-वस्तु। और साथ ही-साथ अतिरिक्त मूल्य सहित विनिमय।

अब हमें मूल्य की उत्पत्ति पर विचार करना चाहिए। सभी यह

जानते हैं कि प्रत्येक वस्तु के मूल्य का निश्चय उस वस्तु के बनाने में जो श्रम लगा, (मौजूदा व्यवस्था के अनुसार उचित समय में लगा हुआ उचित श्रम) और इसके साथ जितनी कीमत का कच्चा माल और मशीन का उपयोग हुआ—ये तीनों बातें वस्तु के मूल्यांकन में भाग लेती हैं ।

उदाहरण के लिए १ गज कपड़ा लीजिये । इस १ गज कपड़े के तैयार करने में तीन चीजों ने काम किया—मशीन + रूई + श्रम । मशीन रोज कितना कपड़ा तैयार करती है और वह कितने वर्गों तक काम देगी, इन दो तथ्यों को आप १ दिन के १ गज कपड़े पर फैला लीजिये । यानी इस प्रकार मशीन की विसाई खाते १ गज पर अधिक-से-अधिक कुछ पैसे आयेंगे । अब रूई की कीमत और सूत तैयार करने का श्रम इन दोनों में मिलाकर (अगर एक गज में एक छटाँक रूई लगती है तो) कुछ मिलाकर (=) हुए । और यह एक गज कपड़ा तैयार करने में एक मजदूर को मौजूदा हालत में १५ मिनट लगे तो १५ मिनट की मेहनत अगर — मानें तो कुल मिलाकर १ गज की लागत कीमत हुई अधिक-से-अधिक । (=) । इस १ गज कपड़े को पूँजीपति बाजार में अगर III) या II-) प्रति गज के हिसाब से बेचता है तो I-) के ऊपर के सारे पैसे 'अतिरिक्त मूल्य' के नाम से मालिक को मिलेंगे । इस प्रकार कितने गज कपड़ा रोज तैयार होता है और यह I) प्रति गज वाला लाभ कितने गुना होकर मिलपति को जेब में इकट्ठा होता रहता है । लागत-मूल्य और विनिमय-मूल्य का जो अन्तर होता है, उसे अतिरिक्त मूल्य कहते हैं । इसी अतिरिक्त मूल्य के सहारे मिलपति करोड़ों रुपये प्रति वर्ष बचाते हैं ।

अब यह स्पष्ट हो गया कि औद्योगिक क्षेत्र में पूँजीपति का दो बातों

का लाभ मिलता है—(१) अतिरिक्त श्रम और (२) अतिरिक्त मूल्य । इन्हीं दो के बचे हुए धन से वह पूँजीवादी बनने का सौभाग्यप्राप्त करता है ।

(१६) ऊपर पूँजी के बढ़ने के तीन मार्गों पर प्रकाश डाला जा चुका है । अब प्रश्न उठता है कि प्रत्येक ऐसा व्यक्ति, जिसके पास दो-चार लाख रुपये बैंक में जमा हैं, क्या पूँजीपति है ? इसका उत्तर साफ है कि पूँजीपति की कसौटी रुपयों या धन की संख्या नहीं बल्कि उस धन को खर्च करने का प्रकार और मनोवृत्ति है । मान लीजिये कि एक लाखपति प्रतिमास अपने बैंक-हिसाब में से कुछ रुपये निकालकर अपनी आवश्यकता और सुविधाओं पर खर्च करता है, तो इस प्रकार उस संचित-पूँजी में से हमेशा खर्च ही होता है । उसमें वृद्धि नहीं होती । इस प्रकार जमा पूँजी हमेशा कम होती चली जाती है । उस पैसे से वह सिर्फ अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करता है । ये आवश्यकताएँ कम या ज्यादा हो सकती हैं । ऐसे धनपति को हम पूँजीपति नहीं कह सकते और न उन लाखों को सम्पत्ति को पूँजी का नाम दे सकते हैं । इसके विपरीत एक व्यक्ति के पास २० हजार रुपये हैं । इस रकम को वह सूद या व्यवसाय के चलन में डालकर हमेशा इसमें बढ़ती करता जाता है या उद्योग में लगाकर अतिरिक्त मूल्य के आधार पर नया पूँजी पैदा करता है । तो ऐसे व्यक्ति को हम बड़ी आसानी से पूँजीवादी कह सकते हैं और उसकी सम्पत्ति को पूँजी । पहले प्रकार को दौलत को हम पैसा (Money) की संज्ञा देंगे और दूसरे प्रकार के धन का पूँजी (Capital) की, क्योंकि पहली रकम का मूल्य यहाँ सिर्फ निनिमय मूल्य है, अतिरिक्त मूल्य नहीं, इसके विपरीत इसमें व्यक्ति दौलत का मूल्य अतिरिक्त मूल्य या लाभ प्रधान मूल्य है, उपयोग मूल्य नहीं । अतः 'पूँजी और पूँजीवाद' मनोवृत्ति और प्रकार का प्रश्न है, मात्रा का नहीं ।

समाजवाद की सीमाएँ

पिछले सफ़ों में जिन सामाजिक दोषों और कमियों का वर्णन किया गया है उनके कारणों का एक स्पष्ट चित्र अब तक पाठकों के सामने आ गया होगा। इसलिये आज के मानव के सामने प्रश्न यह है कि इन बुराइयों और विषमताओं को दूर कैसे किया जाय जिससे यह रोग ही न रहे। क्षणिक और आंशिक उपचार आज तक उन धब्बों को धो नहीं सका है। और इसीलिये समाज की नयी रचना भी रुकी रही। अतः इसके लिए तो एक ही दवा है, एक ही इलाज है और एक ही रास्ता है—समाजवादी समाज की बुनियाद रखना। पर बुनियाद रखने से पहले यह समझना आवश्यक है कि आखिर यह 'समाजवाद' या 'समाजवादी समाज' है क्या बला? बिना इसे समझे, बिना इसकी तस्वीर को देखे लोग इसकी साधना कैसे करेंगे? इसलिए आगे बढ़ने से पहले पाठकों के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वे उस 'समाजवाद' को पूरी तरह से समझें जिसे वह हिन्दुस्तान में लाना चाहते हैं। यह बात आज इसलिए और जरूरी हो गई है क्योंकि बहुत-सी समाजवाद की शक्तों का आज यहाँ प्रचार हो रहा है। यूरोप स्वयं तो समाजवादी विचारधारा का एक अजायब-घर हो रहा है। जहाँ बहुत-सी चीजों पर एक ही लेबिल लगा हो वहाँ अगर खरीदनेवाले ने जरा भी भूल कर दी तो मामला बिल्बुल चूटा भी हो सकता है। ऐसी स्थिति में बड़ी बारीकी और ध्यान से हमें 'समाजवाद' को समझने की कोशिश करनी चाहिए। क्योंकि 'समाजवाद' का नाम लेते ही कुछ

आलोचक तो यह कह उठते हैं कि भाई—समाजवाद तो ५७ प्रकार का होता है आखिर यह कौन समाजवाद है जिसे समाजवादी पार्टी इस देश में लाना चाहती है। हेरो लेडलर (Harry Laidler) ने “समाजवादी सिद्धान्त का इतिहास” नामक पुस्तक में लिखा है—“इतिहास के साधारण विद्यार्थी ने आबेन और सेंट्सिमन के ‘यूटोपियन सोशलिज्म’; स्मोलर और त्रिस्मार्क के ‘स्टेट साशलिज्म’; किंगह्वे और मौरिस के ‘क्रिश्चियन सोशलिज्म’; मार्क्स और एंगिल्स के ‘वैज्ञानिक सोशलिज्म’; शो और बेन्स के ‘फेबियन सोशलिज्म’ का ले और हाब्सन के ‘गिल्ड साशलिज्म’ और लेनिन तथा ट्रास्की के ‘बोलशेविज्म’ के विषय में कुछ न कुछ अवश्य सुना होगा। अगर इस सूची का हम तैयार करें तो इसमें जगहूर और जयप्रकाश के ‘प्रजातांत्रिक समाजवाद’ को और जोड़ा जा सकता है। समाजवादी विचारधारा को कितने प्रकार से सीमा देने का प्रयत्न किया गया है। लेकिन क्या इनमें कोई एक सूत्रता या समानता है? या ये सब केवल अलग-अलग लोगों के मुँह से निकली अलग-अलग बातें हैं?

इतनी बात सब है कि ऊपर जिन-जिन नामों को गिनाया गया है वे एक प्रकार से ‘समाजवादी’ विचारधारा को अलग-अलग मोड़ों के नाम हैं। पूर्व समाजवादी विचारधारा को जारी रखते हुए उसमें नयी हालतों के अनुसार नयी कठिनाइयों और सुविधाओं का ध्यान रखकर कुछ तबदीली और सुधार किये जाते रहे हैं। इन परिवर्तनों को बराबर स्पष्ट करने की कोशिशें की गईं। और इन कोशिशों के साथ ही समाजवाद का एक नया नाम पड़ गया। इसलिए बदलती हुई परिस्थितियाँ को ध्यान में रखकर ही समाजवादी विचारधारा के

विकास-क्रम का विचार किया जा सकता है। समाज का जीवन हमेशा आगे बढ़ता रहता है लेकिन मनुष्य का दिमाग इसे अनुभूतियों का संग्रह मानने के बजाय तस्वीरों की रील समझने की कोशिश करता है। इसलिए समाजवाद कोई जड़ सिद्धान्त नहीं है वरन् वास्तविकता का प्रकाशन या उद्घाटन है जिस पर हमारी कोशिशों और विचारों की छाप हमेशा पड़ती है।

युटोपियन सोशलिज्म—युटोपियन सोशलिज्म या तो पलायनवादी है या सोम्बार्ट के शब्दों में बुद्धिवादी। इन लोगों में प्रायः कल्पना की प्रधानता रहती है और कल्पना के साथ कलात्मक प्रतिभा का मेल होने से वे अपनी कल्पना को साहित्य के बड़े आकर्षक धागों में पिरोने में सफल होते हैं। इनका यथार्थ जगत् कुछ अधूरा रह जाता है। यथार्थ से दूर केवल कल्पना के जोर से वे उस जगत् की बुराइयों का मुकाबला नहीं कर सकते और नतीजा यह होता है कि स्वप्न के मीठे धागे उस सत्य के सामने छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। एक ही कुलांच में वे सामाजिक जीवन की कमियों और असफलताओं से दूर निकल जाते हैं। इसलिए मनुष्य जिन इच्छाओं को पूरा करना चाहता है, उन्हीं के अनुसार युटोपियनों पर रंग चढ़ता है। युग का दबाव उनपर भी पड़ता है। ये लेखक पलायनवादी हैं। क्योंकि ये नहीं बताते कि अंधकार-पूर्ण वर्तमान से युटोपिया के प्रकाशमान भविष्य तक कैसे पहुँचा जा सकता है। युटोपिया तक पहुँचने का रास्ता कुहरे में खो जाता है, किन्तु युटोपिया का लक्ष्य चमकीला है और उसकी कल्पना सदा प्रेरणा देनेवाली है।

इन लोगों की ऐसी मान्यता है कि शिक्षा और विचार की प्रेरक-शक्ति में ही वह जादू है जो उस स्वप्नलोक तक मानव समाज को

पहुँचा सकता है। परन्तु हमारे यह स्वप्न द्रष्टा मनुष्य की कमजोरियों और गलतियों से अनभिज्ञ हैं।

स्टेट-सोशलिज्म—प्राचीन युग में रोम के बादशाह और अमीरों में 'रोटी और सरकस' बहुत प्रचलित था। वे मानते थे कि रोटी और सरकस निरंकुश शासन के आवश्यक अंग हैं। विस्मार्क जैसे मनुष्य स्वभावतः इस तथ्य को समझते थे। इसलिए स्टेट-सोशलिज्म एक प्रकार से सर्वसत्तावाद की स्थापना का एक उपांग है। यह अविकसित और संकुचित है। स्टेट-सोशलिज्म आमतौर पर समाज के (Organic) सिद्धान्त को मानता है। जिसके अनुयायी प्रत्येक मनुष्य के व्यक्तित्व का स्वतंत्र विकास नहीं चाहते, बरन् राज्य की जिसकी अधिकार-सीमा में सब कुछ आ जाता है, ताकत बढ़ाने में विश्वास करते हैं। यहीं पर समाजवाद एक यत्रवाद का मार्ग बन जाता है। हिटलर का 'समाजवाद' ऐसा ही समाजवाद था।

क्रिश्चियन सोशलिज्म—समाजवादियों में दो बातों पर मतभेद है—एक उद्देश्य और दूसरा साधनों पर। कुछ समाजवादी मूलतः स्वतंत्रवेत्ता होते हैं और वे राज्य पर अविश्वास करते हैं और दूसरे वे जो राज्य में ही अपने प्रयत्नों और मनुष्य की आशाओं की परिणति पाते हैं। अधिकांश सोशलिस्ट इस मत के हैं कि सामाजिक परिवर्तनों के लिए सहयोगी प्रयत्नों की आवश्यकता है। जब कि कुछ लोगों का विचार है कि सामाजिक परिवर्तन के लिए आवश्यक है व्यक्ति में भीतरी परिवर्तन अर्थात् मनुष्य के 'सद्' का उद्भूत होना। यह सिद्धान्त 'बापू' के 'हृदय परिवर्तन' से मिलता-जुलता है। क्रिश्चियन सोशलिज्म जैसा कि उनके नाम से जाहिर है,

ईसा के उपदेशों और ईसाई संतों के जीवन चरित्र पर विश्वास करता है। फोरियर-जैसे लोगों ने पूँजीवादी उत्पादन की बराबरी से असंतुष्ट होकर समाजवाद का रास्ता पकड़ा है। कुछ लोगों ने समाजवाद को केवल अध्यात्मिक और धार्मिक समाजवाद के अर्थ में ही लिया है। इसीलिये क्रिश्चियन सोशलिज्म ने कभी जन-आन्दोलन का रूप नहीं लिया। यह व्यक्तिगत विश्वास और आस्था की ही चीज रही है। फिर भी इसने हमारी समस्याओं और उनके प्रचलित स्वरूप को एक भीतरी निगाह दी है। ऐसे विचारक समाज में हमेशा कम रहेंगे पर ये समाज में आदर्श के प्रेरक बने रहेंगे।

सिण्डीकलिज्म—जब कि क्रान्तिकारी और विकासवादी तरीकों की तुलनात्मक अच्छाई के विषय में लोगों में विवाद चल रहा था, कुछ समाजवादी राज्य के नौकरशाही में बदल जाने की संभावना से परेशान हो रहे थे। फेब्रियन सोशलिस्ट और जर्मन सोशल-डिमांक्रेटों से लेटिन देशों के लोग बहुत परेशान हुए। उनका ध्यान उद्योगों पर सामाजिक नियंत्रण करने के तरीके की ओर झुका। समाजवाद यदि उपयोगी आदर्श बनना चाहता है तो उसे न केवल उपभोक्ताओं की माँग को वरन् उत्पादकों की माँग का भी पूरा करना चाहिए। कोई भी मजदूर तभी सुखी और संतुष्ट रह सकता है जब वह अपने श्रम के संगठन में व्यावहारिक रूप से भाग ले। इसलिये उद्योगों में 'स्वशासन' के सिद्धान्त का चलन हुआ। इस विचार के समर्थक मध्य युग के सामाजिक जीवन से बहुत प्रभावित हुए, इसलिये उन्होंने समाजवादी राज्य की स्थापना के लिये उत्पादकों के 'गिल्ड' या संघ बनाने की सिफारिश की।

सिण्डीकालिज्म—कुछ विचारकों और मजदूर नेताओं ने 'गिल्ड्स' के महत्त्व पर आवश्यकता से अधिक जोर दिया। उन्होंने 'गिल्ड्स' को पूर्ण सत्ता सम्पन्न संस्था का रूप दिया। जो कई सहयोगी 'गिल्ड्स' के साथ मिलकर राज्य का काम करती। समाजवाद स्थापित करने के राजनैतिक तरीकों पर नाराजगी प्रकट की जाती थी और मजदूर संघों में संगठित मजदूरों की सीधी कार्यवाही पर ही पूरा भरोसा किया जाता था। पूँजीपतियों की सरकार उलटने और आजादी की व्यवस्था को और बढ़ाने के लिये मजदूरों की आम हड़ताल का सहारा लिया जाता था। 'गिल्ड' साशलिज्म (समाजवाद) का यह आक्रामक रूप 'सिण्डीकालिज्म' कहलाता है।

वोलशेविज्म—इस औद्योगिक नीति की एक प्रतिक्रिया हुई। समाजवादी राज्य में स्वतंत्रता को मात्रा कितनी होगी इस झगड़े में मजदूरों ने राज्य पर अधिकार करने का अपना प्रयत्न ही सिथिल कर दिया। यह तो लेनिन जैसे दूरदर्शी और प्रतिभाशाली व्यक्तियों का ही काम था जिसने कहा कि परिवर्तन लाने के लिये राज्य की मशीन पर कब्जा करना जरूरी है। इसलिये उसने पहले-पहल मजदूर-वर्ग के संगठन और संघों को उस टेक्निक का प्रिकसित करने की ओर ध्यान दिया। जिससे मजदूर-वर्ग राज्य पर अधिकार कर सके। इस उद्देश्य की ओर इस अकेले व्यक्ति के अटूट प्रयत्न का नतीजा यह हुआ कि उसने विरोध-रहित पार्टी बनाने पर जोर दिया और एक सत्तावादी (Tolociterian) पद्धति का समर्थन किया। आवश्यकता पूर्ति के लिये ही स्वतंत्रता को जरूरत होती है और लेनिन का विचार था कि आवश्यकता की माँग प्रबल होने पर कुछ

समय के लिये स्वतंत्रता को सीमित किया जा सकता है, ताकि मजदूर-वर्ग राज्य पर कब्जा कर सके। लेनिन वर्ग-संघर्ष को समाज की निर्धारित सीमा मानता था, इससे बढ़कर वह किसी धन को महत्त्व देने को तैयार न था। 'बोलशेविज्म' का यही प्रधान तत्त्व था।

वैज्ञानिक समाजवाद—आज दुनिया में समाजवाद एक प्रबल शक्ति के रूप में फैल रहा है। इसका नारा संसार के सारे शोषितों का चुम्बक की तरह अपनी ओर खींचता है। इस शक्ति का सारा श्रेय मार्क्स और एंगिल्स को मिलाना चाहिए। उनकी ठोस दलीलों और विश्लेषणों से ही समाजवाद की तर्क-भूमि मजबूत हुई है। उनका समाजवाद वैज्ञानिक है, क्योंकि उन्होंने सामाजिक विकास के नियमों का विश्लेषण करके बताया कि पूँजीवादी अर्थ व्यवस्था को समाजवादी उत्पादन में बदल देना चाहिए। एडमस्मिथ और उनके अनुयायियों ने पूँजीपतियों के हितों की रक्षा के लिये अर्थ-शास्त्र के जिन मजबूत नियमों की रचना की उनको मार्क्स और एंगिल्स ने उखाड़ फेंकने के लिये षड्यंत्र करनेवाले नियमों के रूप में देखा। इस विशाल परिवर्तन को लानेवाला और उसका लाभ उठानेवाला वर्ग श्रमिकों का होगा। यह मार्क्सवाद का गौरव है कि उसने बताया कि मजदूर ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता जायगा, मानव-जाति की उन्नति का रास्ता उतना ही व्यापक होता जायगा।

वर्ग-संघर्ष जिससे युटोपियनों और क्रिश्चियन सोशलिस्टों ने हमेशा कावा काटने का प्रयत्न किया, वही मार्क्सवाद में परिवर्तन की प्रमुख शक्ति और भाग्य की रेखा बन जाता है। विज्ञान और दर्शन-शास्त्र ने मनुष्य की जो मूर्ति खड़ी कर रखी थी, वह मार्क्स के

विचारों में सामाजिक व्यक्ति है जिसके विचार और व्यवहार इस बात पर निर्भर करते हैं कि आर्थिक जीवन में उसका क्या स्थान है। मार्क्स ने समाज-शास्त्र में 'अचेतन' अनजान की क्रिया-प्रतिक्रिया का उद्घाटन किया। उसने जो खोज की उससे समाजवादियों को एक नया उद्देश्य, एक नया मोर्चा मिला; युटोपियनों और क्रिश्चियन सोशलिस्टों की तरह केवल आदर्श ही हाथ न लगा। मार्क्स ने अपनी प्रतिभा से अपने पहले के प्रचलित बिखरे हुए समाजवादी विचारों को एकत्रित करके सभी युगों की सबसे अधिक विस्फोटक और आकर्षक सक्रिय विचारधारा का रूप दे दिया।

अब सवाल उठता है कि उत्पादन के साधनों का समाजीकरण करने और पूँजीपतियों को पदच्युत करने का तरीका क्या हो? शा और बेन्स जो ब्रिटिश समृद्ध-परिवार में पले हुए हैं, फेबियन नीति को पसन्द करते हैं। वे मानते हैं कि समाजवाद की ओर धीरे-धीरे ही बढ़ा जा सकता है। यह क्रमिक प्रगति आवश्यक है। यद्यपि और बातों में फेबियन सोशलिस्ट काफी यथार्थवादी रहे परन्तु उनका साधारण दृष्टिकोण युटोपियन समाजवादियों से भिन्न नहीं है।

१८४८ के आन्दोलन में मार्क्स ने जो भाग लिया और १८७१ में 'पेरिस कम्यून' की उसने जो ऐतिहासिक पैरवी की उससे पता चलता है कि समाजवाद की ओर बढ़ने का मार्क्स का तरीका पूर्ण क्रान्तिकारी था। उसके आर्थिक सिद्धान्तों का जन्म संकटकाल में और उनका विकास विषम परिस्थितियों में हुआ। दूसरी ओर ब्रिटिश फेबियन और सुधार चाहनेवाले जर्मन सोशलिस्ट और दूसरे डेमोक्रेट वैधानिक-तरीको को अधिक महत्त्व देते थे। उनका दृष्टिकोण विकासवादी था और एक-एक कर थोड़े सुधार करने के पक्षपाती

थे। इसलिये मार्क्सवाद के उद्देश्यों को तो सबने मान लिया किन्तु साधनों या मार्ग के विषय में मतैक्य नहीं हो सकता।

लोकतंत्रात्मक समाजवाद—मार्क्सवाद का सबसे नूतन और विकसित रूप हमें जनतंत्रात्मक समाजवाद (Democratic Socialism) में मिलता है। रूस में लेनिन की विजय के ३० वर्ष बाद आज भी वहाँ को जनता जनतंत्रात्मक-स्वतंत्रता की प्रतीक्षा कर रही है। तानाशाही में शक्ति और सत्ता एक स्थान पर केन्द्रित हो जाती है और किसी एक व्यक्ति के हाथों उसका इस्तेमाल होता है। सोवियत समाज का विकास आर्थिक असमानताओं और राजनैतिक दासता के कारण रुका हुआ है। लोकतंत्र और समाजवाद में वहाँ आज कोई संबंध नहीं रहा है। वहाँ के समाजवाद ने जनतंत्र को तलाक दे दी है। परन्तु सच बात यह है कि इन दोनों का गठबन्धन ही मनुष्य का सुख और सन्तोष दे सकता है। लोकतांत्रिक समाजवाद का यही मौलिक आधार है। अपने देश में इसी प्रकार के समाजवाद का नारा समाजवादी पार्टियों को ओर से लगाया गया है। यही वह समाजवाद है जिसके मूल में जयप्रकाश और जवाहर की आवाज है। इसी की प्रतिष्ठा हम अपने देश में करना चाहते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि समाजवाद को विभिन्न व्याख्याएँ हुई हैं। प्रत्येक नये 'स्कूल' में समाजवाद का नया आकर्षक रूप रखने की कोशिश की। इसलिये समाजवाद की पूरी तस्वीर का स्पष्ट खींच कर पाठकों के सामने रख सके ऐसी परिभाषा देना संभव नहीं। फिर भी उसे अधिक से अधिक साफ भाषा में इस तरह रखा जा सकता है कि "समाजवाद मजदूर पेशा लोगों का वह सैद्धान्तिक

आन्दोलन है जिसका उद्देश्य या लक्ष्य वर्ग-संघर्ष के द्वारा समाज पर सामूहिक नियंत्रण करके मजदूरों द्वारा राज्य की मशीन पर कब्जा करना और औद्योगिक क्षेत्र में स्वशासन कायम करना है ।”

यह कहना गलत नहीं होगा कि ऊपर की परिभाषा भी पूर्ण नहीं है ऐसी हालत में ‘जनतन्त्रात्मक समाजवाद’ की व्याख्या करते समय हमें उसकी सीमाओं को बहुत अंश में नकार negation द्वारा बाँधना होगा । इस नकार और उद्देश्य को विस्तृत व्याख्या द्वारा हम भारतीय-समाजवाद की साफ तस्वीर रख सकने की कोशिश करेंगे । और इसी कारण आगे बढ़ने से पहले उद्देश्य की सफाई बहुत जरूरी है । आज यह आवश्यकता और अधिक महसूस हो रही है, क्योंकि आज पहले समाजवाद की बहुत-सी विरोधी तस्वीरें हमारे सामने आने लगी हैं, जिनमें से हमें अपना चुनाव करना है ।

दुनिया और विशेषकर हिन्दुस्तान में आज मुख्य चुनाव एक सत्तावादी साम्यवाद और लोकवादी समाजवाद के बीच में करना है । एक सत्तावादी साम्यवाद के अन्तर्गत जिसे समाजवाद नाम देना ही गलत है, अधिकार प्राप्त पार्टी के अलावा अन्य सभी पार्टियों को कुचल दिया जाता है । सरकार का कोई विरोध नहीं कर सकता । साथ ही साथ इस सर्व सत्तावान नौकरशाही में औद्योगिक संघ और मजदूरों के स्वतंत्र संगठन नहीं होते वरन् ऐसे संगठन प्रायः सरकार के हिस्से या अंग ही बन जाते हैं या परोक्ष रूप से वे सरकार द्वारा प्रभावित होते हैं । अपने देश का ‘राष्ट्रीय मजदूर संघ’ (I. N. T. U. C.) इसका उदाहरण है । ये संगठन शासन करनेवाली पार्टी की आज्ञा के बिना हड़ताल नहीं कर सकते, कोई भी स्वतंत्र निर्णय नहीं हो सकते । रूस में यही हो रहा है । इस प्रकार

‘समाजवाद’ में जैसा कि साम्यवाद को प्रायः नाम दिया जाता है व्यक्ति स्वतंत्र नहीं है और न पहले से ही प्रतिबंधित आजादी, काम और जीवन की कोई गारंटी है। ऐसी अवस्था में सरकार व्यक्ति के जीवन, आजादी और खुशी पर अवाध अधिकार रखती है और दूसरी ओर दुर्भाग्य से एक पार्टी-प्रथा के कारण सरकार श्रमिक-संघों और लोकशाही के अनुशासन से बाहर निकलकर एक-मात्र अधिकार प्राप्त के हाथों का खिलौना बन जाती है। पार्टी के नेता, उद्योग-धन्धों के नेता, कृषि और सेना के नेता श्रमिक-वर्ग से अलग स्वयं एक वर्ग बन जाते हैं। और विशेष सुविधाओं का भोग करते हुए, साधारण मजदूरों से कहीं अधिक आमदनी करते हुए, मजदूरों के नाम पर शासन करते हैं परन्तु ऐसे नेताओं पर मजदूरों का अधिकार बिलकुल नहीं रहता।

फिर कैसा समाजवाद ?—अपने देश में ऊपर बताये गये किसी भी प्रकार को समाजवाद को ‘मच्छिका म्थाने मच्छिका’ को तरह तो प्रतिष्ठा की नहीं जा सकती। ऐसा करना यहाँ के इतिहास, यहाँ की परम्परा एवं यहाँ के रहन-सहन के प्रति अनिभिज्ञता का कारण होगा। समाजवाद के मूल सिद्धांतों के प्रति पूर्ण विश्वास और वफादारी के बावजूद भी इस देश की समाजवादी पार्टी को ‘लोक-तांत्रिक समाजवाद’ में पूर्ण आस्था है। और वही इस देश के लिये अनुकूल और उपयोगी साबित होगा। जिस उद्देश्य को लेकर यहाँ का समाजवादी पार्टी आगे आई है, उसमें आर्थिक और राजनीतिक लोकतंत्र को पूरा-पूरा स्थान है। समाजवाद का यह सूत्र है कि बिना लोकतंत्र के समाजवाद कभी स्थाई नहीं हो सकता। इसलिए हमारी कल्पना के समाजवादी समाज में प्रत्येक व्यक्ति,

प्रत्येक श्रमिक स्वतंत्र हैं। स्टेट या राज्य बिना न्याय का आश्रय लिए किसी व्यक्ति को सुविधाओं और हकों को छोन नहीं सकती। इसके अलावा इस प्रकार के समाज में ट्रेड-यूनियन या मजदूर-संघ स्वतंत्र होंगे और जरूरत पड़ने पर उन्हें हड़ताल करने का अधिकार भी हासिल होगा। इसके साथ श्रमिकों की दूसरी संस्थाएँ या संगठन भी आजाद होंगे। सत्ता प्राप्त पार्टी के अलावा दूसरी राजनीतिक पार्टियाँ स्थापित की जा सकती हैं। और इन पार्टियों को काम करने की पूरी आजादी रहेगी। प्रचार के किसी भी साधन पर सरकार का एकाधिकार नहीं रहेगा। मजदूरों के संगठनों का सामूहिक सहयोग समितियों, नगरपालिकाओं (म्यूनिसिपैलिटी) और मजदूरों की दूसरी सहयोगी संस्थानों के अपने प्रेस और प्रचार साधन रहेंगे और सरकारी प्रेस का भी स्वयं सरकार की आलोचना के लिए वे इस्तमाल कर सकेंगे। मजदूरों को सरकार को आलोचना करने का कानूनी अधिकार प्राप्त होगा। इस प्रकार के समाज में आर्थिक अधिकार एकमात्र सरकार के हाथ में न रहकर मजदूरों की सामूहिक संस्थाओं और दूसरे प्रतिनिधि संगठनों के हाथ में भी दिया जायगा। ऐसे समाज में स्टेट के बड़े-बड़े पदाधिकारी पुलिस अफसर और मजिस्ट्रेट उचित चुनाव क्षेत्रों द्वारा निर्वाचित किये जायेंगे। और उन्हें वापस बुलाने का अधिकार भी उस क्षेत्र को बराबर रहेगा। साधारण मजदूरी से बहुत अधिक आमदनी कोई व्यक्ति न कर सकेगा। अधिक वेतनवाले लोगों के बच्चों को साधारण नागरिक के बच्चे से अधिक सुविधाएँ प्राप्त न होगी। सरकार और आर्थिक विभागों का प्रबन्ध बिल्कुल सरल रहेगा। इन मामलों में समाज का अधिक से अधिक भाग रहे, ऐसी व्यवस्था की जायगी।

ये हैं लोकवादी समाज के आधार मूल सिद्धांत । इस देश की समाजवादी विचारधारा की भावी-नीति का यही सिद्धांत निर्देश करेंगे । लेकिन केवल सिद्धांत किसी 'वाद' की पूरी व्याख्या नहीं करेंगे, विशेषकर उस चित्र की जिसकी कि कल्पना यहाँ की पार्टी के सामने है । ये सिद्धांत तो केवल उन अवस्थाओं और शर्तों को हमारे सामने रखते हैं जो यहाँ के समाजवाद को एक सत्तावादी पार्टी में तब्दील होने से हमेशा बचाते रहेंगे । परन्तु सिद्धांतों के साथ हमारे सामने समाजवाद के वे ठोस-माइल-स्टोन भी आना चाहिए जिनको पार करते हुए हम 'वर्ग-शून्य समाज' के लक्ष्य तक पहुँच सकेंगे ।

(१) पूँजीवाद और सामन्तवाद का खात्मा—हमारी यात्रा का पहला स्टोन है पूँजीवादी और सामन्तवादी व्यवस्था का खात्मा । व्यक्तिगत मुनाफे के लिए श्रम के शोषण पर पूँजीवादी समाज की रचना हुई है । स्वच्छन्द पूँजीवादी समाज में इस शोषण के प्रकार और मात्रा का निर्णय धनिक-वर्ग ही करता है । और नियंत्रित पूँजीवाद में यह कार्य प्रायः सरकार द्वारा किया जाता है । लेकिन ऐसी सरकार के संचालक स्वयं सरकार द्वारा नियंत्रित लाभ, मजदूरी और मूल्य उस समाज के आर्थिक आधार में कुछ विशेष अन्तर पैदा नहीं करते ।

समाजवादी समाज में यह आधार तात्त्विक रूप से बदल जाता है । ऐसे समाज में पूँजीवाद नहीं रहता ; ऐसी निजी उत्पादक सम्पत्ति पर, जिसके और बढ़ाने के लिये श्रम की आवश्यकता पड़ती है, अधिकार करनेवाले मालिक नहीं रहते । पूँजीवाद का खात्मा

सत्ता को बलपूर्वक हथियाने या जनतंत्रात्मक रीति का काम में लाने से होगा। रास्ता जो भी हो, एक समाजवादी समाज में पूँजीवादी वर्ग का कोई अस्तित्व नहीं रहेगा। न ऐसे समाज में जमीन्दार या धनी की शान-जैसे किमी शोषक-वर्ग का ही स्थान रहेगा। शोषक-वर्ग की समाप्ति के अर्थ होंगे समाज में केवल एक वर्ग का शेष रह जाना—मजदूर-वर्ग। ये मजदूर चाहे खेतों में काम करें, चाहे मिलों में, चाहे दफ्तर या किसी अन्य महकमें में। ऐसे समाज में सरकार मजदूरों की सरकार होगी और अगर जनतंत्रात्मक राजनीतिक और आर्थिक जीवन की उचित मर्यादा का पालन किया गया, तो इस सरकार को कभी भी निरंकुश एक सत्तावादी सरकार में बदल जाने का मौका न मिलेगा।

(२) उत्पत्ति का समाजीकरण—पूँजीवादी व्यवस्था के अन्दर जिस सम्पत्ति पर आज पूँजीपति या जमींदार का स्वामित्व होता है, समाजवाद में वैही सम्पत्ति सामूहिक रूप से मजदूर-वर्ग की हो जायगी। दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि सरकार और हमारे अधीन दूसरे विभाग जैसे—म्यूनिसिपैलिटियाँ, ग्राम पंचायत, सहयोग-समितियाँ आदि इस सम्पत्ति के मालिक बन जाते हैं और यही समस्त आर्थिक मामलों के मैनेजर और संचालक होते हैं। सभी बड़े-बड़े उद्योग-धन्धे जैसे रक्षा और बुनियादी उद्योग स्टेट द्वारा संचालित होते हैं। खपत और अन्य छोटे-मोटे उद्योग-धन्धों पर अन्य सहयोग-समितियों का अधिकार रहता है। भूमि ग्राम पंचायत की होती है, जिसमें से प्रत्येक खेतिहर एक सीमा के भीतर कुछ एकड़ जमीन प्राप्त करता है। और वास्तविक खेती या तो सहयोग-समिति या व्यक्ति एक संगठन के सदस्य की हैसियत से करता है।

(३) व्यवसाय और बैंक—व्यावसायिक संगठन भी स्टेट या सहयोग-समितियों की मिलकियत बन जायँगे। सरकार या ऐसी समितियों के द्वारा ही सारे व्यवसाय का संचालन होगा; परन्तु बहुत-सा स्थानीय रोजगार व्यक्ति के हाथ में भी सौंपा जा सकता है। सारी बैंक मशीनरी सरकार के हाथ में रहेगी।

(४) विज्ञान और शिल्प—वर्तमान समाज का आर्थिक-संगठन व्यक्तिगत लाभ के लिए ही खड़ा किया गया है। समाज-वादी समाज में आर्थिक रचना का उद्देश्य ऐसी वस्तुएँ उत्पन्न करना होगा, जो मनुष्य की आवश्यकता और संतोष के लिए जरूरी हों। आज हिन्दुस्तान बयान कर सकने से ज्यादा गरीब है। नौकरी और सामान का मुहय्या नहीं किया जा रहा है। वे थोड़े-से लोग, जो आज अधिक सुविधाजनक स्थिति में हैं, अगर अपने साथियों के अंश का दुरुपयोग न करें तो भी सारी आबादी की बुनियादी जरूरतों की पूर्ति के लिए भी हमारे पास बाकी साधन नहीं है। इसलिए यह निश्चित है कि पैदावार को कई गुणा अधिक बढ़ाने की सख्त जरूरत है।

लेकिन पैदावार उस समय तक नहीं बढ़ाई जा सकती जब तक कि शारीरिक श्रम को विज्ञान और मशीनरी के सहारे और अधिक पैदा कर सकनेवाला न बनाया जाय। लेकिन ऐसे समाज में मनुष्य की श्रम-शक्ति को अधिक पैदा कर सकनेवाली बनाते जाना ही एकमात्र उद्देश्य नहीं होगा, बल्कि ऐसे साधन जुटाना भी राष्ट्र का कर्तव्य होगा जिससे कि श्रम या मेहनत कम-से-कम हरनेवाला और थकान पैदा करनेवाला हो सके। साथ ही साथ मजदूर को आराम, उत्सव और विनोद के लिए काफी वस्तु दे सके। इसलिए

अधिक-से-अधिक उत्पादक और कम-से-कम उत्पीड़क बने। इसके लिए यह जरूरी है कि विज्ञान और मशीन का अधिक-से-अधिक उपयोग किये जायें।

(५) बड़ी और छोटी दस्तकारी—इस सिलसिले में बड़े उद्योग-धन्धों और दस्तकारी के विषय में जो वाद-प्रतिवाद चला करता है, वह हमारे विषय से बाहर है। समाजवादी समाज का उद्देश्य सांस्कृतिक और भौतिक दोनों दिशाओं में अधिक उन्नति-शील जीवन का भाव कायम करना है। इसलिए विज्ञान, शिल्प, कला (Technology) आदि सभी को इस उद्देश्य की प्राप्ति में लगाया जायगा। सभी प्रकार के उत्पादनों को छोटे-बड़े केन्द्रित, विकेन्द्रित, उपज की आवश्यकता और नौकरी को स्वास्थ्य और रूचि के अनुरूप बनाया जायगा।

(६) आयोजित आर्थिक-विकास—पूँजीवादी समाज में उपज की व्यवस्था समान की जरूरत के अनुसार नहीं होती है, इसके खिलाफ बाजार के रंग-रूप को देखकर उसका निर्णय किया जाता है। जरूरत गेहूँ की होती है और बोई मिचें जाती हैं इसलिए कि उनसे ज्यादा लाभ होता है। अर्थात् उत्पादन और उपज में समाज की आवश्यकता का ध्यान न रखकर खर्च और बचत का ध्यान रखा जाता है। 'मजदूरी और लाभ' के आधार पर उपज का चुनाव किया जाता है। इसलिए पूँजीवादी उत्पादन की योजना शून्य और बरबादी से भरी हुई होती है।

समाजवादी समाज में उत्पादन को समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति करनी पड़ेगी। इसलिए जरूरत के माफिक उपज या पैदावार का इन्तजाम किया जायगा। सामाजिक-जरूरत के हिसाब से पहले

एक योजना या स्कीम तैयार की जायगी और उस योजना के अनुसार उपज होगी।

(७) विकेन्द्रित और प्रादेशिक योजनाएँ—फिर भी ऊपर बताई गई योजना में एक खतरा है क्योंकि योजना का अगर बिल्कुल केन्द्रिकरण किया गया तो योजना में एक बार फिर नौकरशाही की बू आ जायगी। लेकिन आयोजित-अर्थ-व्यवस्था की प्रकृति ही ऐसी है कि किन्हीं-किन्हीं क्षेत्रों में जैसे मूल-उद्योग-आयात, निर्यात-चलन, अर्थ और आवश्यक चीजों के मूल्य-निर्णय में केन्द्र का नियंत्रण टाला नहीं जा सकता। लेकिन इतने पर भी अगर एक पार्टी के दोषों और प्रभाव से उसे दूर रखना है तो जहाँ तक संभव हो, प्रादेशिक-योजनाओं को स्थानीय निर्देश के लिये छोड़ देना चाहिए। विशेषकर स्थानीय-खपत के पदार्थों के विषय में और इसके अलावा केन्द्रीय-योजना-समिति की रचना इस तरह की जाय कि उसे पूर्ण प्रतिनिधित्व प्राप्त हो या उसमें सारे लोग केन्द्रीय सरकार के ही न होकर प्रान्तीय सरकार, ट्रेड-यूनियनों, सहयोग-समितियों के भी कुछ लोग हों।

(८) ग्राम और नगर—पूँजीवादी-अर्थ-व्यवस्था के अन्दर, विशेषकर हिन्दुस्तान में, गाँव शहर के शिकार हैं। समाजवादी हिन्दुस्तान में यह संघर्ष खत्म हो जायगा और गाँवों का पूँजीवादी व्यवस्था द्वारा जो शोषण होता है, वह बिल्कुल बन्द हो जायगा। शहर और देहात की जिन्दगी के मापदण्ड में आज जो अन्तर दिखाई देता है, वह खत्म हो जायगा और किसान तथा मजदूर दोनों अपनी मेहनत का बराबर मूल्य पायेंगे।

(६) धर्म—समाजवाद जीवन का एक वैज्ञानिक तरीका है। इसलिए धर्म के विषय में ऐसे समाज में किसी प्रकार का हस्तक्षेप न होगा। समाजवादी हिन्दुस्तान में धर्म बिल्कुल स्वतंत्र रहेगा। सरकारी नौकरियों, सुविधाओं या अन्य ऐसे ही कार्यों में किसी विशेष धर्म का बिल्कुल विचार न किया जायगा। अपने विश्वास, आस्था के अनुसार प्रत्येक नागरिक समान रूप से अपने विश्वास का पालन कर सकेगा। और सरकार किसी की धर्म-भावना में उस समय तक हस्तक्षेप न करेगी जब तक कि वह राष्ट्र-हित और कल्याण के विरुद्ध न हो।

(१०) जाति—हिन्दुस्तान में आर्थिक विषमता के साथ बहुत-सी सामाजिक-विषमताएँ भी खड़ी हो गई हैं—विशेषकर हिन्दुओं में यह जाति-प्रथा असामाजिक, अलोकतन्त्रात्मक और बर्बरता-पूर्ण है क्योंकि यह मनुष्य और मनुष्य के बीच ऊँच-नीच की रेखा खींचती है। मनुष्य की आजादी को कम करके उसके आर्थिक कामों पर चोट पहुँचाती है। समाजवादी हिन्दुस्तान में यह प्रथा नहीं रह सकती और न जाति के नाम पर किसी प्रकार के फर्क या भेद-भाव को माना जा सकता है।

(११) स्त्रियाँ—आज के समाज में नारी को दबाकर रखा गया है। उसका शोषण किया गया है। समाजवादी व्यवस्था के अन्दर स्त्री पुरुष के समकक्ष होगी। और न लिंग-भेद को ध्यान में रखकर उसके प्रति व्यवहार में कोई अन्तर होगा।

यह है उस समाजवाद का चित्र जिसे हम इस देश में प्रतिष्ठित करना चाहते हैं। यह एक ऐसे लोकवादी समाज की कल्पना है.

जहाँ प्रत्येक व्यक्ति मेहनत करनेवाला और बराबर होगा। स्त्रियाँ भी इन सुविधाओं से वंचित नहीं रहेंगी। जहाँ सभी को समान सुविधाएँ प्राप्त होंगी। और वेतन में इतना अन्तर न रहेगा जिससे कि वर्ग-भेद को प्रोत्साहन मिले। ऐसे समाज में सारी सम्पत्ति समाज की होगी। जहाँ उन्नति और विकास की एक पूर्व निश्चित योजना रहेगी। जहाँ श्रम या मेहनत आनन्द या खुशी का कारण होगा। जहाँ जिन्दगी सम्पन्न, पूर्ण और सुन्दर होगी। क्योंकि जब तक उत्पादक साधनों पर व्यक्ति का अधिकार और नियंत्रण रहेगा तब तक वे साधन न तो राष्ट्र-हित का निर्वाह कर सकते हैं और न मानव-जीवन में सामूहिक जीवन की भावना को ही दृढ़ कर सकते हैं। अतः समाजवाद की बुनियादी बात है व्यक्ति के अधिकार और स्वार्थ के ऊपर समाज या राष्ट्र के हित को प्रधानता देना। चूँकि राष्ट्र के मानी है भिन्न-भिन्न लोगों का समूह, इसलिए राष्ट्र-हित में भी व्यक्ति हित की उपेक्षा नहीं होती वरन् हित की सीमा अधिक व्यापक और संयत हो जाती है। इस व्यवस्था में आज से कहीं अधिक सुखी और समृद्ध मानव-जीवन की कल्पना ही तो समाजवाद की अपनी साधना है। पर अब और तब में अन्तर यह रहेगा कि आज चन्द व्यक्ति बहुत सम्पन्न और सुखी होते हैं। वे दया और करुणा के नाम पर अपने वैभव का कुछ अंश दूसरे व्यक्ति को देकर अपने को कृतार्थ मानते हैं। तब साधनों द्वारा अर्जित पैसा अधिक से अधिक लोगों में उनके कार्य, सेवा और योग्यता के आधार पर बाँट दिया जायगा। परन्तु बाँटने की एक सीमा होगी कि इतना अधिक किसी को न मिले कि अजीर्ण हो जाय और न इतना कम किसी को मिले कि भूखा ही रह जाय। प्राप्य में अन्तर रहेगा पर कम-से-कम

साथ ही सामाजिक सम्मान और श्रेष्ठता के मूल्यांकन का आधार बिल्कुल बदल जायगा। आज व्यक्ति के निजी विकास और बच्चों की शिक्षा आदि के प्रति राष्ट्र अपने को सीधा जिम्मेवार नहीं मानता। यह कार्य तो संरक्षकों का मानकर टाल दिया जाता है। तब जीवन को ऊपर उठाने के समस्त साधनों को सुगम करने का प्रधान कर्तव्य व्यक्ति का नहीं सरकार का होगा और सरकार श्रम जीवियों की होगी, जो अपनी जीविका के लिये कुछ न कुछ श्रम करते होंगे चाहे दिमागी चाहे शारीरिक। अपने इस लक्ष्य तक समाज जिस दिन पहुँच जायगा उस दिन भिन्न-भिन्न स्वार्थों पर खड़े वर्ग या श्रेणियाँ न रहेंगी। और जब देश में और विश्व में वर्ग-शून्य समाज की प्रतिष्ठा हो जायगी तो एक स्वार्थ की दूसरे स्वार्थ से टकर और कशमकश बन्द हो जायगी। क्योंकि उस समय राष्ट्र से भिन्न स्वार्थ व्यक्ति का न रहेगा और राष्ट्रीय स्वार्थों का उचित समन्वय विश्व हित के साथ होगा। दायित्व और अधिकार में एक मीठा संबंध कायम होगा। इन दोनों को जोड़नेवाली चाँदी की कड़ी का स्थान कर्तव्य ज्ञान ले लेगा। बल के स्थान पर स्वेच्छा और नागरिकता की प्रधानता होगी। पर यह स्वप्न उस समय तक पूरा नहीं होता जब तक अधिक से अधिक नागरिकों में इस लक्ष्य और साधन के प्रति विश्वास और आस्था पैदा न हो जाय। इसलिए समाजवाद की रीति और नीति की स्पष्ट व्याख्या बड़ी जरूरी है। आज हमारे सामने एक ही उद्देश्य है—समाजवाद की प्रतिष्ठा। यही वह मन्दिर है जहाँ पहुँचकर हम वर्ग-शून्य समाज के दर्शन कर सकेंगे।

समाजवाद का भारतीयकरण

पिछले सफों में यह बतलाया जा चुका है कि इस देश में हम जिस प्रकार के समाजवाद की स्थापना करना चाहते हैं उसे 'लोकवादी समाजवाद' का नाम दिया जा सकता है। इसके यह अर्थ नहीं कि यह 'समाजवाद' अपने पूर्ण स्वरूपों से एकदम भिन्न कोई नयी वस्तु है। जहाँ तक तत्त्व का प्रश्न है यह मार्क्सवाद का ही अंग है। मार्क्स ने जिस 'वैज्ञानिक समाजवाद' को घोषणा की थी उसी 'वैज्ञानिक समाज' के विश्लेषण और विकास में 'लोकवादी समाजवाद' की पूर्ण आस्था है। दोनों का लक्ष्य या साध्य एक ही है—वर्ग-शून्य, सम्पन्न, सुखी मानव समाज की प्रतिष्ठा। परन्तु विज्ञान कभी पूर्ण नहीं होता। देश और काल के अनुरूप एक सत्य सदा एक ही रूप में स्थाई नहीं रहता। दुनिया परिवर्तनशील है। इस परिवर्तन का प्रभाव-समाज और मानव दोनों में अवश्यमभावी है। हाँ, इस अतीत सत्य का जो मूल प्रकाश है वह सदा अविच्छिन्न रूप में इस परिवर्तन के तत्वों के साथ भी घुला-मिला रहता है। इसलिए साध्य का एकता होने पर भी कभी-कभी साधन में भिन्नता आ जाती है। मार्क्स इस बात को समझता था इसीलिए मार्क्स का जोर साधन पर इतना नहीं था जितना 'साध्य' पर। उसका अपना यह विश्वास था कि साध्य की सच्चाई और पवित्रता साधन की उपेक्षा भी कर सकती है। इसके अर्थ यह नहीं जैसा कि प्रायः विरोधी लगाया करते हैं कि प्रत्येक अच्छे साध्य की प्राप्ति के लिये मार्क्स खूँखार या काले साधनों को अपनाने का आग्रह रखता

था। उसका सिर्फ इतना ही मतलब था कि जब एक बार लक्ष्य की पवित्रता और श्रेष्ठता में विश्वास हो जाय और परिस्थितियाँ उतने ही पवित्र साधनों द्वारा वहाँ तक न पहुँचने दे तो फिर निराश होकर बैठ नहीं जाना चाहिए वरन् तब एक बार ऐसे रास्ते से भी हमें वहाँ पहुँचना ही चाहिए जिससे हम साधारण स्थिति में पसन्द न करते। यहाँ आग्रह 'साध्य' पर है 'साधन' पर नहीं। इसी बात को लेकर मार्क्स के विषय में बहुत प्रचार किया गया। प्रत्येक देश ने मार्क्स के इस 'साध्य-साधन' के प्रश्न पर स्थिति के अनुरूप विचार किया। ~~रूस~~ की स्थिति उस समय 'लोकवादी-समाजवाद' के पक्ष में नहीं थी इसलिए लेनिन को 'रक्तमय क्रान्ति' का सहारा लेना पड़ा लेकिन वह रास्ता लेनिन ने भी खुशी से नहीं अपनाया था। उसे अपनाना पड़ा था। जार परिवार का खून करने में लेनिन को प्रसन्नता नहीं हुई पर मजबूरी में उसे यह सब करना पड़ा। अगर उस समय के रूस में 'लोकवादी समाजवाद' के प्रसार के लिए अनुकूल स्थिति होती तो लेनिन ने जो रास्ता अपनाया वह कभी न अपनाता। अतः स्वयं लेनिन ने अपने व्यवहार द्वारा 'साधन' की उपेक्षा नहीं की वरन् 'साध्य' पर जोर दिया है।

मार्क्स के इस 'साध्य और साधन' के प्रश्न को लेकर खूब चर्चाएँ हुई हैं। 'वर्ग-संघर्ष' के बाद यही उनका तत्व है जिस पर ज्यादा से ज्यादा लोगों ने कलम चलाई। हिन्दुस्तान में भी 'साधन' के पक्ष को लेकर बहुत वाद-प्रतिवाद चला है। यहाँ कि समाजवादी पार्टी ने स्वयं भी पहले इस विषय में अपनी पुगनी नीति को ही अपनाया था। पर जिस प्रकार विज्ञान स्वयं विकास शील है उसी प्रकार मानव के विचार भी। आज से सौ वर्ष पहले के हिन्दुस्तान और

आज के हिन्दुस्तान में जमीन आसमान का अन्तर है। अतः किसी भी बात को हम उसी रूप में आज भी पकड़े रहने का आग्रह नहीं रख सकते। हालत बदल चुके हैं। सोचने और काम करने के तौर-तरीकों में फर्क हो चुका है। राष्ट्र-पिता गाँधी ने देश को एक नया प्रकाश और विचारधारा दी इसका प्रभाव भी हमारे जीवन में स्पष्ट है। इन सब बातों को देखते हुए आज 'साध्य' की एकता के बावजूद भी हमारा रास्ता या रीति कुछ भिन्न हो सकती है। अतः 'साधन' का निर्णय करते समय देश की परम्परा और स्थिति का प्रभाव भी अनिवार्य है। इस प्रकार से भारतीय-समाजवाद में साध्य और साधन के प्रश्न पर सोचनेवाले दो स्कूलें हैं। एक तो जो परम्परागत मार्क्सवाद से अलग दूसरी तरह सोचना मार्क्सवाद के प्रति विद्रोह मानता था। दूसरा मार्क्स के मौलिक तत्वों के प्रति-पूर्ण निष्ठावान रहते हुए भी 'साधन' के प्रश्न को भारतीय-परम्परा के अनुकूल ढोना चाहता था। द्वितीय विचारधारा के उन्नायक हैं आचार्य नरेन्द्र देव और जयप्रकाश बाबू। नासिक-सम्मेलन के अवसर पर जब पार्टी ने कांग्रेस से अलग होकर कार्य करने का निश्चय किया तो उसके सामने कई एक विवाद-ग्रस्त प्रश्न थे। इन प्रश्नों का हल जयप्रकाशजी के श्रेष्ठ नेतृत्व में बड़ी शांति और श्रेष्ठता के साथ निकला।

एक प्रकार से नासिक-सम्मेलन को हम समाजवाद के भारतीय-करण की भूमिका मान सकते हैं। यहाँ से समाजवाद एक नयी मोड़ की ओर चलता है। अपने सिद्धान्त और तत्वों के साथ भारत की परम्परा और इतिहास का समन्वय करता है। समाजवाद के इस पूर्वीकरण में जैसा कि कहा जा चुका है सबसे अधिक हाथ जयप्रकाश

नारायण का रहा है। अनेक आग्रह, निष्ठा और गंभीरता के सामने पार्टी में भिन्न विचार रखनेवाले साथियों को भी उन विचारों को अपनाना पड़ा। इसे अपनाने में अनुशासन या दबाव का प्रभाव नहीं था। विचार परिवर्तन और तर्क ही इसके कारण थे। पूर्वीकरण करनेवाले, या समाजवाद को भारतीयकरण करनेवाले दो प्रधान प्रश्न थे — (१) साध्य और साधन को समानता और एकरूपता; (२) राजनीति सत्ता और शक्ति की द्योतक ही नहीं है।

इन दो तत्वों पर सम्मेलन में अधिक-से-अधिक वाद-विवाद हुआ। साथी जयप्रकाश ने भी अपने हृदयगत भावों को निकाल कर दूसरे साथियों के सामने रख दिया था। एक प्रकार से हम कह सकते हैं कि समाजवाद में गाँधीवाद के एक नये तत्व की वृद्धि और की गई, जिससे यह भारतीय-जीवन और भारतीय-जनता के अधिक निकट आ सके। इन दोनों पक्षों के विषय में साथी जयप्रकाश नारायण के विचार यहाँ रखना अधिक संगत होगा।

“I seek your indulgence now to bear with me in examining a problem that has deeply worried me of late. The problem is that of methods and means. It is important for us, both in the light of our impending decision to break away from the Congress and of the tragic events that have recently taken place.

In the West opposition parties do not consider it wrong to use lies and falsehood to bring the rival parties into disrepute; they do not consider it wrong to practise bribery and corruption to achieve favourable results at elections. There are certain parties, which go

much beyond lies and corruption. For them even murder, loot and arson are a part of political strategy. We have witnessed this strategy unfold its bottomless tragedies in the past months.

From time immemorial there have been politicians who have preached that there is no such thing as ethics in politics. In the old times, however, this amorality did not spread its corrupting influence beyond a small class that played at politics, and the mass of the people were left uncorrupted by what the leaders and the ministers of the state did. But since the rise of totalitarianism, which includes both Facism-Nazism and stalinism, this principle has been applied on a mass scale and every individual in society has been affected by it. This has resulted in such an eclipse of moral values from social life that not only its political sector has been darkened but every sector of human life including even family life.

Since the victory of Stalinist methods in Russia, it has been commonly believed that there is no room for moral values in Marxism, and it is usual for a socialist who talks of such matters to be branded as a renegade or, at the least, a deviationist. I should therefore like to state before you in the clearest possible terms that I for one have come to believe that for the achievement of socialism a strict regard for means is of the highest importance, socialism means different things for different persons, but if by socialism we mean a form of society

in which the material needs of every individual is a cultured and civilised being, is free and brave, kind and generous, then, I am absolutely clear that we will never reach this goal except by strict adherence to certain human values and standards of conduct. It is too often believed that all would be well only if there were no exploitation in society and everyone was well fed and clothed and housed. But a society of well fed and clothed and housed *brutes* is a far cry from socialism.

There were many things that Mahatma Gandhi taught us. But the greatest thing he taught us was that *means are ends*, that evil means can never lead to good ends and that fair ends require fair means. Some of us may have been sceptical of this truth but recent world events and events at home have convinced me that nothing but good means will enable us to reach the goal of a good society, which is socialism.

When, in a statement the other day, I talked of the need of spiritual regeneration, some of you might have thought perhaps that I have been so deeply shaken by recent happenings that I was trying to escape from the hard realities of life. Those of you who might have thought so are completely mistaken, I have no knowledge of matters spiritual, if the term is understood in a religious or metaphysical sense. I have not suddenly come to acquire faith in something called the spirit or the soul a Brahman. Such philosophy as I have is earthly and human. I am concerned merely with the

problem of the type of men I should like to live in a society. Clearly, I do not like to live in a society of liars and murderers, of men who have no kindness in them, no tolerance, no fellow-feeling.

I crave your indulgence again to permit me to examine another problem from a somewhat unorthodox point of view.

There is a view held by some that all politics are power politics. I consider this to be a disastrous point of view.

I shall examine here two important aspects of this way of thinking. First, let us see how it affects party organization. Those who hold this view should logically make every attempt—I do not say that they are actually doing so—to secure power within the party itself. And power according to this view, being the quintessence of politics, the use of every kind of means such as lying, scandal-mongering and cheating at party elections. Such means could only result in the complete disintegration of the party. It is human to yearn for recognition and aspire for positions of influence and leadership. But one should be content to reach these positions by virtue of one's work and service done to the cause.

The second aspect of this view which I wish to examine here has a far deeper and wider significance. The theory that all politics are power politics has the necessary underlying basis that the

state is the only instrument of social good. In other words, those who subscribe to this theory believe—unless they are mere self-seekers, in which case unworthy of notice—that they must capture state in order to be able to serve society and bring about the social transformation they desire.

I reject this view completely.....

The experience of totalitarian countries, whether fascist or communist, has shown that if the state is looked upon as the sole agent of social reconstruction, we get nothing but a regimented society in which the state is all-powerful and popular initiative is extinct and the individual is made a cog in a vast inhuman-machine. Such a society is surely not the object of our party; nor could a society of this nature ever be an intermediate state in the evolution of the democratic-socialist society that is our aim.” (From Report-Socialist Party 6th Annual Conference March 1948.)

(हिन्दी सारांश)—“मैं अब एक अत्यन्त महत्वपूर्ण समस्या पर आपके साथ-साथ विचार करने की आजादी चाहता हूँ। इस समस्या ने गुजिश्ता दिनों में मुझे काफी परेशान रखा है। यह समस्या साध्य और साधन की है। जो दुखद घटनाएँ पिछले दिनों देश में घटी हैं और काँग्रेस से अलग होने का जो निर्णय आप करने जा रहे हैं, इन दोनों कारणों से यह समस्या आज हमारे लिए और ज्यादा अहम हो गई है।”

पच्छिम में विरोधी-दल को नीचा दिखाने में भूठ और कपट का

व्यवहार बुरा नहीं माना जाता। चुनाव जीतने के लिए वहाँ घूस और रिश्वत का देना अनुचित नहीं समझा जाता। कुछ दल तो वहाँ ऐसे हैं जो भूठ और कपट की सीमा से बहुत आगे बढ़ जाते हैं। उनके लिए तो खून, जूट और आग लगाना तक राजनीतिक कौशल के अन्दर ही आता है। पिछले महीनों में हम इस भयंकर रण-कौशल का नजारा देख चुके हैं। उसके कारण अत्यन्त अपार सर्वनाश का अनुभव भी कर चुके हैं।

बहुत समय से कुछ राजनीतिज्ञ इस बात का प्रचार करते आये हैं कि राजनीति में नैतिकता, चरित्र या माननीय-गुण नाम की कोई चीज ही नहीं है। लेकिन पुराने जमाने में इस अनैतिकता का दुष्प्रभाव एक खास सीमा या वर्ग से जो राजनीति से हमेशा खेला करता था, बाहर नहीं फैल सका। और इस तरह आम जनता में मित्रों और नेताओं द्वारा किये गये इस आचरण के कुप्रभाव से हमेशा अछूती ही रही। लेकिन एक सत्तावादी राज-प्रणाली के अभ्युदय से जिसमें फासिस्टवाद, नाजीवाद और लेनिनवाद तीनों शामिल हैं, इस सिद्धान्त का सार्वभौमिक प्रचार शुरू हुआ और आज तो समाज का हर एक व्यक्ति इससे प्रभावित है। इस बात ने समाज के नैतिक धरातल को यहाँ तक हिला दिया है कि समाज का केवल राजनीतिक पक्ष ही काला नहीं हुआ है, वरन् मानव-जीवन का सम्पूर्ण अंग यहाँ तक कि पारिवारिक जीवन तक इससे बचा न रह सका।

रूस में स्टेलिनवादी उपायों की जीत से लोगों को ऐसा विश्वास हो गया है कि मार्क्सवाद में नैतिकता को कोई स्थान ही नहीं रहा। और ऐसी अवस्था में 'समाजवादी' के ऊपर पथ-भ्रष्ट या अधर्मी की छाप लगा देना एक साधारण बात हो गई है। इसलिए जहाँ तक

मेरा सम्बन्ध है, मैं आपके सामने स्पष्ट बता देना चाहता हूँ कि मैं इस बात में बिल्कुल विश्वास करने लगा हूँ कि समाजवाद की प्रतिष्ठा के लिये साधनों की पवित्रता अनिवार्य है। और इसके पालन में कड़ाई बहुत जरूरी है। समाजवाद अलग-अलग लोगों के लिये अलग-अलग अर्थ रखता है। लेकिन अगर 'समाजवाद' के मानी एक ऐसे समाज के हैं जहाँ प्रत्येक व्यक्ति की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति हो, और जहाँ प्रत्येक व्यक्ति सभ्य और संस्कृत, आजाद और बहादुर, दयावान और उदार हों, तो मुझे पूरा विश्वास है कि ऐसे समाज तक पहुँचने के लिये हमें कुछ मानवीय-गुण, कुछ आचरण के माप-दण्ड के नियमों का कड़ाई से पालन करना होगा। प्रायः ऐसा समझा जाता है कि अगर समाज से शोषण खत्म हो जाय, तो सब कुछ ठीक हो जायगा। हर एक आदमी के लिये भोजन, कपड़ा और घर मुहैया हो जायगा; लेकिन खाते-पीते और अच्छी तरह से रहनेवाले बबर समाज के नारे से 'समाजवादी' समाज का नारा बहुत दूर की बात है।

महात्मा गाँधी ने हमें बहुत-सी बातें सिखलाई, लेकिन सबसे बड़ी बात उन्होंने यह बताई कि साधन ही साध्य होता है। दूषित साधन और खराब रास्ते से हम कभी अच्छे उद्देश्य तक नहीं पहुँच सकते। अच्छे उद्देश्य या साध्य के लिये अच्छे या पवित्र ही साधन चाहिए। हमारे देश में हाल में जो घटनाएँ हुई हैं उनसे मुझे विश्वास हो गया है कि केवल नेक और ऊँचे साधनों द्वारा ही हम अच्छे यानी 'समाजवादी' समाज के लक्ष्य तक पहुँच सकते हैं।

इसी प्रकार एक और महत्वपूर्ण बात है जिसके विषय में मैं आप से कुछ नये तरीके से विचार करने की इजाजत चाहता हूँ।

कुछ लोगों की मान्यता है कि राजनीति तो सत्ता और अधिकार की ही द्योतक है। मैं स्वयं इस दृष्टिकोण को बड़ा भयंकर और खतरनाक मानता हूँ। इस प्रकार की विचारधारा के दो पहलुओं की मैं यहाँ जाँच करना चाहता हूँ। पहले तो यह मान्यता पार्टी संगठन पर कहाँ तक असर डालती है। जिनके ऐसे विचार हैं उन्हें पार्टी-संगठन के अन्दर सत्ता पाने की कोशिश करनी चाहिए। चूँकि सत्ता राजनीति का एक अनिवार्य नतीजा है इसलिए इसकी प्राप्ति के लिये उचित-अनुचित हर तरह के तरीके जायज हैं; यहाँ तक कि झूठ बोलना, बदनाम करना और पार्टी चुनाव के रुपये धोखे-धड़ी करना भी उचित हो—मुझे उम्मीद है कि मेरे साथ आप सभी सहमत होंगे कि इस प्रकार का रास्ता पार्टी को छिन्न-भिन्न कर देगा। इसलिए मैं प्रत्येक साथी से प्रार्थना करता हूँ कि वह ऐसे उपाय छोड़ दें और पार्टी के भीतर सत्ता और अधिकार पाने की लालसा से अपने को बचाये रखें। अपने काम की लोगों से तारीफ सुनना, प्रभाव-पूर्ण नेतृत्व के स्थानों के लिये महत्वाकांक्षा रखना स्वभाविक और मानवीय है। लेकिन अपनी सेवा और कार्य क्षमता द्वारा ही ऐसे पदों तक पहुँचने में किसी को संतोष करना चाहिए।

इसी सवाल का एक दूसरा पहलु और है। वह बड़ा अहम और व्यापक है। उसकी जाँच भी मैं यहाँ करना चाहूँगा। राजनीति का अन्त सत्ता या अधिकार है, इस सिद्धान्त से एक ध्वनि निकलती है कि राज्य या सरकार के द्वारा ही समाज की कोई भलाई की जा सकती है। यानी समाज की सेवा और हित का एकमात्र साधन सत्ता या राज्य है। इसलिए इस सिद्धान्त के माननेवाले यह

कोशिश करते हैं कि पहले वे सत्ता पर कब्जा करें जिससे कि वे समाज-सेवा के योग्य होकर मन चाहा सामाजिक-परिवर्तन कर सकें ।

मैं बिल्कुल इस विचार को मानने के लिए तैयार नहीं हूँ । आज काँग्रेस के हाथ में सत्ता है लेकिन बहुत-से काँग्रेसमैन आज यह स्वीकार करने लगे हैं कि अगर काँग्रेस ने प्रत्येक सामाजिक-सुधार के लिये सरकार का ही मुँह ताका तो वह अपने को खत्म कर देगी । सच बात यह है कि रचनात्मक काम करनेवाले लोगों में आज यह भाव बढ़ रहा है कि उनको वैधानिक-मशीन से अलग होकर स्वतंत्र रूप से काम करना चाहिए जिससे कि वे समाज और सरकार दोनों की सेवा कर सकें ।

एक सत्तावादी देशों के अनुभवों ने जिसमें फासिस्त और साम्यवादी दोनों देश शामिल हैं, यह दिखला दिया है कि अगर केवल स्टेट को ही एकमात्र सामाजिक-निर्माण का एक जरिया मान लिया गया तो हमारे हाथ सिवाय एक रिजमेन्टिड-समाज के और कुछ न लगेगा जहाँ राज्य ही सब कुछ होगा और लोक-निर्णय जहाँ एकदम खत्म होकर व्यक्ति की कोई स्वतंत्र अस्तित्व न रह जायगा इस प्रकार का समाज हमारी पार्टी का उद्देश्य हर्गिज नहीं है और न लोकतंत्रात्मक-समाजवादी समाज तक पहुँचने के लिए जो हमारा साध्य है, हम बीच की अवस्था में ऐसी किसी समाज व्यवस्था से समझौता ही कर सकते हैं ।” (श्री जयप्रकाश नारायण द्वारा व्यक्त, पार्टी वार्षिक रिपोर्ट नासिक मार्च, १९४८) ।

उपरोक्त दोनों तत्वों को लेकर नासिक सम्मेलन के अवसर पर बहुत वाद-विवाद हुआ । शायद सबसे अधिक समय इसी मुद्दे पर खर्च हुआ था । मन और दिमाग की पूरी सफाई के बाद सभी

साथियों के एक नये उत्साह और विश्वास के साथ इस नये संदेश को स्वीकार किया। सर्व सम्मति से यह प्रस्ताव पास हुआ था। इसके पास होते समय मेरी निगाह 'बापू' के इस तैल-चित्र पर थी जो मंच के ऊपर आशीर्वाद और वरदहस्त का प्रकाश कर रहे थे। ऐसा लगता था कि वे सब कुछ सुन रहे हैं। भारत के हित और भविष्य की दृष्टि से जहाँ गणतंत्र को बहुत पहले ही प्रतिष्ठा हो चुकी हो, इस प्रस्ताव से अधिक हितकर और कुछ नहीं हो सकता था। इस देश में और दुनिया में समाजवादी सिद्धान्तों की उपयोगिता में आज सभी को विश्वास हो गया है पर कुछ रुकावटें थी, कुछ पुराने विश्वास थे जिनकी अपेक्षा करके इस देश का जन-साधारण इस रास्ते से आगे बढ़ने में कुछ हिचकता था। कुछ दूसरे बामपक्षी लोगों के व्यवहार ने यहाँ की जनता को और शंकित कर दिया था। वह समाजवाद का मूल्यांकन करते समय इन्हीं बाम-पक्षियों के आदर्श को सामने रखकर 'समाजवाद' को भी तौलते थे। साध्य और साधना को इस एकरूपता ने अन्य 'समाजवादी' पार्टी को अन्य बाम पक्षियों से बिल्कुल अलग लाकर खड़ा कर दिया है, जहाँ से अधिक प्रकाशित और प्रभावशाली होकर विश्व में श्रेष्ठ समाजवाद के नये संदेश को प्रसारित करेगी।

इस प्रस्ताव ने उन संकीर्ण और गंदे आक्षेपों के लिये अब कोई आधार नहीं रखा है जो विरोधियों द्वारा प्रायः किये जाते थे। साथ ही साथ इसने ईमानदार और रचनात्मक गाँधीवादियों के लिये भी अपना द्वार खोल दिया है। ऐसे गाँधीवादी यहाँ आकर बापू के समाजवाद-किसान और मजदूरों के राज्य के साथ-साथ मानवीय और नैतिक गुणों के उस ऊँचे स्तर का अनुभव कर सकते हैं जो

भारत की सदा से अपनी देन रही है। एक प्रकार से यह पच्छिम के भौतिकवाद का भारतीय-आदर्श के साथ मिलाप हुआ है। इस मिलाप से जिसे उन्नत और व्यापक समाजवाद की निर्मणी निकलेगी वह विश्व को प्रेम, सम्पन्नता और लोक कल्याण का नवजीवन देकर वास्तविक शान्ति, सुरक्षा और बन्धुत्व की बुनियाद मजबूत करेगी।

यह तर्क और हृदय के पुट-पाक जहाँ भौतिक सुविधाओं और सुखों की उपेक्षा नहीं करता वहीं हृदय और मन के लिए एक ऐसी सुनहली-मनोभूमि तैयार करता है जिस पर बैठकर (moralist) नैतिकवादो, अध्यात्मवादो और आचारवादो सभी आत्म संतोष का अनुभव कर सकें। जीवन में उद्योग और कला का समन्वय जिस प्रकार मानव को श्रेष्ठता की ओर ले जाता है उसी प्रकार बुद्धि और हृदय का सुख और आनन्द का, श्रम और प्रेम का यह मिलन राजनीति को सेवा, कर्त्तव्य और त्याग के संगम का रूप देगा।



आगे कैसे ?

जिस प्रकार के समाज का चित्र हमने पिछले पृष्ठों में खींचा है, वह एक दिन में तैयार नहीं हो सकता। आज का समाज समाजवाद से बहुत दूर है। इसलिए वर्तमान और आदर्श समाज के बीच में एक संक्रान्ति काल (Transitory Period), जो छोटा भी हो सकता है और बड़ा भी, अनिवार्य है। अतः यह सोचना कि आदर्श समाजवादी समाज की व्यवस्था और नियम हम आरंभ से ही चालू कर सकेंगे, गलत और भ्रमात्मक है। बीच की अवस्था बड़ा महत्वपूर्ण है। अगर इस अवस्था के बीच नागरिक अपने अधिकार और कर्तव्य का ठीक-ठीक उपयोग करने लगे तो किसी नयी अवस्था को कायम करने में आसानी होगी, परन्तु ऐसा प्रायः होता नहीं। रुढ़ि, अज्ञान, अशिक्षा आदि के कुप्रभाव से जनता बहुत कुछ बाहिरी दबाव या आतंक से वशीभूत होकर करती है इसलिए सभी स्थानों में लोकवादी-प्राणली का समान व्यवहार असम्भव हो जाता है। पर हिन्दुस्तान में हमारा ऐसा विचार है कि लोकवादी या जनतन्त्रात्मक प्रयोगों की बाधाएँ अधिकांश में दूर हो चुकी हैं। ऐसी हालत में इस बीच के काल में भी उन बुनियादी वसुलों पर कायम रहा जा सकता है जिनकी प्रतिष्ठा हम पूर्ण समाजवादी समाज के भीतर करना चाहते हैं।

जहाँ तक भौतिक अवस्था का प्रश्न है स्थिति समाजवाद के काफी अनुकूल है। स्वराज्य के बाद भी बापू के किसान-मजदूर राज्य का सपना अभी सपना ही बना है। राजनीतिक आजादी आज

१० प्रतिशत भी आर्थिक आजादी नहीं ला सकी है। देहात उसी हालत में पड़े हैं। गाँवों की जनता उसी तरह जुल्म और अज्ञान की चक्की में पीस रही है। मध्यमवर्ग मँहगाई काले-बाजार से परेशान है। एक ऊपर के वर्ग को छोड़ कर बाकी सभी असंतोष का अनुभव करते हैं। सरकारी मशीनरी का खर्च काफी बढ़ गया है। पहले से कई गुना अधिक सरकारी आय भी बढ़ी है। पर उसका वितरण आज नीचे पहुँचते-पहुँचते न्यूनतम हो गया है। सरकारी आय का लाभ धनिकों और ऊँचे राज कर्मचारियों को अधिक छोटे और गरीब लोगों को कम मिल रहा है। इन सब बातों ने प्रायः मध्यम और निचले वर्ग के लोगों के दिमाग में एक प्रश्न खड़ा कर दिया है। क्या यह सब आजादी की लड़ाई इतने के लिये हो लड़ी गई थी ? अपने इस असंतोष को कोई आज प्रकट कर सकता है। कोई डर या दबाव से चाहते हुए भी अपने मन के बोझ को दबाये बैठा है। जिस दिन यह बाहिरी दबाव खत्म हो जायगा उस दिन हालत बदलने में देर भी न लगेगी।

वर्ग-संघर्ष—जो ताकतें आज समाज को समाजवाद की ओर ले जा रही हैं, वे वर्ग-स्वार्थ और संघर्ष के द्वारा पैदा हुई हैं। यह केवल दिमागी लोगों का ही काम नहीं है जो अपने तर्क और प्रभाव के बल पर समाजवाद की प्रतिष्ठा कर सकें। निःसन्देह समाजवादी विद्वान् इस क्रम या संघर्ष में अपना एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। परन्तु उनके भीतर से चल-शक्ति (Motive power) पैदा नहीं हो सकती। यह शक्ति तो श्रमिक-वर्ग या पूँजीवादी-व्यवस्था द्वारा शोषित दूसरे वर्ग ही पैदा कर सकते हैं। ये ही वे वर्ग हैं जो बराबर अपने शोषक के विरुद्ध अपनी हालत बदलाने

और शोषण से छुटकारा पाने के लिये हमेशा संघर्ष करते रहते हैं। यह संघर्ष आखिर में उन्हें मौजूदा समाज व्यवस्था के उन्मूलन में सहायता देता है, जिस व्यवस्था ने उनके शोषण की इजाजत दी है। और यही संघर्ष आखिर में शोषण-शून्य समाज की प्रतिष्ठा करता है। जो बुद्धि-जीवी शोषित-वर्ग के साथ अपनी हस्ती को मिला देंगे वे इस संघर्ष को आदर्श का रूप देते हुए इसे उन प्रारम्भिक उद्देश्यों की ओर ले जायेंगे जिन्हें कि ध्येय मानकर संघर्ष की बुनियाद पड़ी थी। संक्षेप में इस संक्रान्ति-काल में वर्ग-संघर्ष ही चेतन-शक्ति का काम करता है।

ऐतिहासिक दृष्टि से अगर इस संक्रान्ति-काल की ओर देखें तो इसकी दो अवस्थाएँ होती हैं—(१) वह अवस्था जहाँ वर्ग-संघर्ष के द्वारा समाजवादी लोग सत्ता पर अधिकार करते हैं; (२) वह अवस्था जहाँ पहुँचकर समाजवादी समाजवाद की प्रतिष्ठा करते हैं।

हमारा रास्ता कौन ? —सिद्धान्त के ख्याल से सत्ता प्राप्त करने के दो रास्ते हैं :—(१) वर्तमान सत्ता को उखाड़कर बलपूर्वक उसपर कब्जा करना (२) जनतन्त्रात्मक या लोकशाही उपायों से जिसमें चुनाव, जनता का संगठन, प्रचार, हड़ताल, सविनय अवज्ञा आदि बातें शामिल हैं। जहाँ श्रमिक-वर्ग, किसान और मजदूर-वर्ग परिपक्व अवस्था को पहुँच गये हों और अपनी मजबूत राजनीतिक पार्टी कायम कर ली हो, वहाँ लोकवादी-प्रथा से स्टेट पर अधिकार किया जा सकता है। जहाँ ऐसी अवस्था न हो, वहाँ लोकतन्त्रात्मक तरीके का कोई असर नहीं पड़ेगा। वहाँ वह व्यर्थ साबित होगा और खतरनाक भी। जब पहली शर्त पूरी हो जाय और सत्ता पर कब्जा कर लिया जाय तब समाजवादी 'समाजवाद' की प्रतिष्ठा करने के

लिये आगे बढ़ सकते हैं। यह प्रतिष्ठा लोकशाही तरीके से कायम होगी या सर्वहारा-वर्ग की डिक्टेटरशिप (ताना शाही) द्वारा जिसमें मेहनत करनेवालों जनसमूह, किसान, मजदूर और गरीब मध्यम-वर्ग शामिल हैं। लोकशाही तरीका वहीं सफल हो सकता है जहाँ प्रति-क्रान्ति (Counter Revolution) का खतरा मौजूद न हो।

समाजवादियों के हाथ में आने पर स्टेट समाजवादी समाज को कायम करने का एक साधन बन जाता है। ऐसी हालत में स्टेट लोकवादी तरीके से काम कर सकती है, या उसे उनलोगों को दबाना पड़ेगा जो इस सत्ता के अस्तित्व के लिये खतरा पैदा कर रहे हों। इस बीच में अगर समाजवादी आन्दोलन ने श्रमिक-वर्ग के एक बहुत बड़े हिस्से को अपने साथ कर लिया और उनपर से पूँजी-वादी-वर्ग के प्रभाव को दूर किया जा सका तो नवीन-स्टेट का आधार बहुत व्यापक और स्थाई होगा। और तब प्रति-क्रान्ति के खतरे की बात भी नहीं सोची जा सकती। समाजवाद का निर्माण तब लोकवादी तरीके पर हो सकता है। दूसरी ओर अगर इस नयी सत्ता के लिये किसी तरह का खतरा पैदा हुआ या यह अरक्षित रही, तो प्रतिगामी ताकतों को उभड़ने से रोका जायगा। यानी ऐसे समय में सर्वहारा-वर्ग का डिक्टेटरशिप कायम करनी पड़ेगी। फिर भी इस डिक्टेटरशिप को अधिक व्यापक और जन-प्रिय बनाया जायगा। और न इसे सिर्फ एक ही पार्टी या वर्ग को रहने दिया जायगा। इस एकतंत्री सर्वहारा-वर्ग की सरकार में श्रमिक-वर्ग से सम्बन्ध रखनेवाले सारे दल सत्ता में हिस्सा लेंगे। और चन्द उन दलों को छोड़कर जो एक सत्तावाद (Totalitarianism) में विश्वास रखते हैं, अन्य सभी दल स्वतंत्रतापूर्वक काम कर सकेंगे। श्रमिक-

वर्ग के विरोधी तत्वों के मताधिकार को छीना जा सकता है और उनकी आजादी पर प्रतिबन्ध भी लगाया जा सकता है।

जैसा कि कहा गया है, समाजवाद के इस परिवर्तन-काल में वर्ग-संघर्ष द्वारा ही चेतन-शक्ति पैदा होगी। हिन्दुस्तान के मजदूर, किसान और मेहनतकश मध्यम-वर्ग न तो संगठित ही हैं और न वे अपने ऐतिहासिक रोल से परिचित ही हैं। और न उनका संघर्ष आज देश के राजनीतिक और आर्थिक-जीवन का एक केन्द्रीय तथ्य बन पाया है। मेहनतकशों या मजदूरों का एक बहुत बड़ा हिस्सा आज भी अज्ञान, अजनतंत्रात्मक और स्वार्थी ताकतों के असर में है—जैसे जातिवाद या संप्रदायवाद। जब तक इन ताकतों के प्रभाव से मुक्त होकर जनता अपने असली हित और ऐतिहासिक भविष्य को नहीं समझ लेती तब तक समाजवाद एक सपना ही बना रहेगा। इसलिए समाजवादी आन्दोलन का प्रारंभिक कार्य श्रमिक-वर्ग के संगठन को खड़ा करके उनमें चेतना पैदा करना है जिससे कि वे सामाजिक अन्याय, शोषण और अभाव के विरुद्ध संघर्ष शुरू कर सकें। पर यह तो एक पक्ष की बात हुई। सारे देश की नमनस में आज विषमता घर कर चुकी है। गरीबी अड्डा बना चुकी है। ऐसी हालत में समाजवाद के सामने जब तक एक भविष्य का स्पष्ट प्रोग्राम न होगा तब तक वह जनता को और बुद्धिवादी-वर्ग को अपनी ओर खींचने में भी असमर्थ रहेगी। इस बात की गंभीरता को मानकर इस देश की समाजवादी-पार्टी ने अपना पूरा प्रोग्राम तैयार किया है। उद्देश्य की स्पष्टता के साथ-साथ साधन की सफाई जरूरी है और साधन की सफाई के समान ही प्रोग्राम और कार्य की रूपरेखा का सामने आना भी उतना ही जरूरी है।

हिन्दुस्तान में आज बड़े-बड़े सामाजिक परिवर्तन हो रहे हैं। आजादी के मिलने से क्रान्ति के वेग को और अधिक बल मिलेगा। इस परिवर्तन से जिनके स्वार्थ को धक्का लगाने का डर है, वे उसे नयी शकल देकर किसी रूप में बनाये रखना चाहते हैं। यह उनका प्रयत्न अगर सफल हो गया तो आज जो क्लेश और आर्थिक-विषमता है वह और अधिक लम्बी हो जायगी। साथ ही साथ अशान्ति और संघर्ष हमारे सार्वजनिक जीवन का एक स्थाई रोग बन जायगा। इसलिए स्वतंत्रता के नव-प्रभात के मौके पर आर्थिक-रचना का विश्लेषण करना जरूरी है ताकि हम उसके द्वारा उत्पन्न विषमता के कारणों को मालूम कर सकें। और इसके बाद किस तरह एक सुन्दर सन्तुलित-आर्थिक-रचना का निर्माण हो जो हमारे गाँवों के निर्धनतम लोगों के जीवन के स्तर को ऊपर उठा सके।

इस दिशा में हमें तीन बातों पर विचार करना पड़ेगा जो कि आगे चलकर सामाजिक-परिवर्तन की दिशा और रूप का निर्णय करेंगे। राजनीतिक और मनोवैज्ञानिक तथ्यों को आर्थिक-सहयोग की दृष्टि से समझना होगा। अभी तक इस देश की आर्थिक व्यवस्था के असंतुलन का मुख्य कारण विदेशी हुकूमत रही है। इसीलिए कृषि और उद्योग-धन्धों को काफी चोट पहुँची है। और पिछले युद्ध ने तो हमारी आर्थिक-व्यवस्था में और अधिक विषमता उत्पन्न कर दी है।

ग्राम उत्पादन—सन् १९३८ से ४१ तक के मंदी के दिनों में कृषि-संबन्धी वस्तुओं की कीमतें उद्योग-वस्तुओं की अपेक्षा ज्यादा गिरी और बाद में उसी हद तक वे उठ नहीं सकीं। सन् ४२ तक लड़ाई के कारण औद्योगिक-वस्तुओं की कीमत काफी तेजी से ऊपर उठी।

बंगाल-अकाल के बाद ग्राम-उत्पादन का मूल्य ऊपर उठना शुरू हुआ। लेकिन आज भी खेतिहर-मजदूर की मजदूरी शहरी मजदूर की अपेक्षा कहीं अधिक कम है। इसका नतीजा यह हुआ है कि खेती कम पैदावार का पेशा बन गया है। इसके और भी बहुत से कारण हैं। आज हमारे सामने एक सवाल है कि हम अपने गाँवों की पैदावार को कैसे मजबूत नींव पर खड़ी करें जिससे पैदावार की मात्रा और आमदनी में बढ़ती हो सके।

इस दिशा में हमें जमीन के मौजूदा कानूनों में और उनकी मिलकियत में काफी रद्दोबदल करनी पड़ेगी। काफी पूँजी लगानी पड़ेगी ताकि वैज्ञानिक कृषि-साधनों द्वारा हम उपज में वृद्धि कर सकें। व्यक्तिगत तरीके से यह कार्य नहीं किया जा सकता। इसके लिये समाजवादी दृष्टिकोण द्वारा प्रोत्साहित और जोरदार सरकारी नीति की जरूरत पड़ेगी।

हमारे गाँवों की माली-हालत की क्रान्ति तब तक सफल न होगी जब तक बिजली द्वारा चालित छोटे-छोटे उद्योग-धन्धों की हम गाँवों में व्यवस्था न कर लें। यही उद्योग-धन्धे संगठित-माली-योजना द्वारा बेकार हुए लोगों को काम देकर अपने में लगा सकते हैं। यह भी एक क्षेत्र है जिसे व्यक्तिगत रूप से लोग न चलाना चाहेंगे क्योंकि पहले-पहल इसमें बहुत कम लाभ की सम्भावना है।

भूमि की नयी व्यवस्था—इन सब बातों का आवश्यक नतीजा यह होगा कि जमीन की किम्म (नर्म या सूखी) का फिर से बन्दोबस्त किया जायगा। और अगर गाँवों की माली-हालत में सुधार करना है तो शोषण को रोकना होगा और खेतिहर-मजदूर को

हालत पर नये सिरे से विचार करना होगा। हरएक कृषि-क्षेत्र के लिये कम-से-कम मजदूरी निश्चित कर दी जाय।

इसके लिये यह देखना होगा कि खेती के मौसम में हरएक खेतिहर मजदूर को प्रति मनुष्य कुल कितने घंटे काम करना पड़ता है और साल भर में औसत काम के घंटे कितने पड़ते हैं। काम थोड़ा है और आदमी उसमें ज्यादा लगे हुए हैं। इस बचे हुए श्रम को आसपास के छोटे उद्योगों में लगाया जा सकता है।

खेती की अर्थ-व्यवस्था—जितनी कोशिश उद्योग और व्यापार की माली-हालत को ठीक करने में की गई उतनी खेती के माली-पक्ष को सम्भालने में नहीं हुई। आज देहातों में जो अर्थ-व्यवस्था प्रचलित है वह न तो किसानों के लिये ठीक है और न जीवन-निर्वाह की सुविधा ही वह दे सकती है। जितनी जमीन गाँव में होती है वह सब कालान्तर में छोटे-छोटे सैकड़ों टुकड़ों में बँट जाती है इससे उत्पादन और व्यवस्था को बड़ा धक्का लगता है। सामूहिक-प्रवृत्ति के लिये यह बड़ा घातक है। अतः गुजारे लायक खेत और चक बनाना बड़ा अनिवार्य होगा क्योंकि तब तक न तो सरकार के लिये उसमें पूँजी लगाना सम्भव होगा और न मौसमी फसल की बुआई में कोई वैज्ञानिक तरीका अमल में लाया जा सकता है। नये खेतों की हालत मजबूत करने के विचार से फसलों का बीमा कराना भी बड़ा जरूरी है। किसानों को चालू-सहायता देने के लिये सबसे उपयुक्त साधन है। समग्र-ग्राम-सहायक-समिति (Multi-purpose Society) और अनाज बैंक व्यवस्था ऐसी हो कि कानूनन हरएक किसान को इसमें शामिल होना पड़े। यह समिति

गाँव की सहयोग-पूर्ण जिन्दगी को चलानेवाली बने। समिति को किसानों के आर्थिक कामों का संगठन करना चाहिए। किसी भी किसान को अपने सिवाय और किसान को लेन-देन करने का अधिकार न हो। फसल के दिनों में कर्ज देने, अच्छे और छोट्टे हुए बीजों और खेती के नये औजारों का इन्तजाम, अच्छी नस्ल के मवेशी तथा गाँव की पैदावार की बिक्री की व्यवस्था व्यक्तिगत रूप से न होकर इन समग्र-ग्राम-समितियों द्वारा ही हो। इसी तरह उपभोक्ताओं (Consumers) के लिये रोज के खर्च की चीजों को देनेवाली दूकानें भी होनी चाहिए।

इन मौसमी सहायताओं के अतिरिक्त भूमि को उर्वरा-शक्ति बढ़ाने, नालियाँ निकालने, जंगल लगाने, बिजली घरों और मध्यम श्रेणी के उद्योग-धन्धों को कायम करने और छोटे पैमानों पर सिंचाई के लिये नहरें तथा गाँव को सड़क आदि बनवाने के लिये भी किसानों को आर्थिक-सहायता मिलनी चाहिए। समाजवादी-व्यवस्था में यह सारे काम प्रान्तीय सरकार की जिला-संस्थाओं के हाथ में रहेंगे। जो ताकतें आज गाँवों का शोषण कर रही हैं उनके कामों पर रोक-थाम लगाना होगा। जब तक यह सब नहीं होता, देहाती जीवन का आर्थिक और राजनीतिक श्रोत गंदला और अवरुद्ध रहेगा। इन्हीं कारणों से यह जरूरी है कि जिला अधिकारी को इस योजना के आरम्भ में पथ-प्रदर्शन करना चाहिए। कार्य की प्रगति के लिये गाँव के कुछ चुने हुए नौजवानों की ग्राम-सेना तैयार करना भी सहायक होगा। इससे अच्छी तरह मिल-जुलकर काम करने की भावना बढ़ेगी। इस प्रकार उद्योग, बिजली, टेक्निक और संगठन के मेलजोल से गाँवों का जीवन बहुत ऊँचा उठेगा। खेती

सोना उगलेगी। और अन्त में धन, विद्या और प्रेम से युक्त भारत के ये गाँव समाजवादी-व्यवस्था के आदर्श गाँव होने का दावा कर सकेंगे। समाजवादी ग्राम-व्यवस्था में शक्ति नीचे से ऊपर का उठेगी। गाँव से शहरों और केन्द्र को जायेंगी। यही वह व्यवस्था थी जिसका सपना गाँधीजी देखते थे। उपाय भेद के साथ यही समाजवादी ग्राम-व्यवस्था का एक संक्षिप्त नकशा है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि हिन्दुस्तान में समाजवाद के तीन मजबूत स्तम्भ हैं :—(१) किसान, (२) मजदूर (३) पीड़ित मध्यमवर्ग। इनके बारे में पार्टी का स्पष्ट और साफ प्रोग्राम होना चाहिए। ये तीन वर्ग मिलकर ही पूर्ण समाजवाद की देश में स्थापना करेंगे। किसान गाँवों का राजा है। और गाँवों के बारे में हम संक्षेप में ऊपर कह चुके हैं। हमारा दूसरा स्तम्भ मजदूर है। अतः समाजवाद की आज इस देश में क्या श्रम-नीति है इस पर प्रकाश डालना आवश्यक है।

श्रमनीति—सन् १९३४ में कांग्रेस समाजवादी पार्टी की स्थापना के समय, पार्टी ने ए. आई. टी. यू. सी. (A. I. T. U. C.) के साथ एक समझौता किया था। इस समझौते में ट्रेड यूनियन-कांग्रेस को मजदूर-आन्दोलन का एक केन्द्रीय संगठन माना गया था और पार्टी को श्रमिक-वर्ग के राजनीतिक विचारों का प्रतीक अगर उन शर्तों पर कायम रह जाता तो देश में आज मजबूत मजदूर-आन्दोलन का विकास हुआ होता।

परन्तु कम्युनिस्टों की मेहरबानी से देश का मजदूर संगठन तीन टुकड़ों में बँट गया—उदार राष्ट्रीय मजदूर-संघ, बुनियादी ए. आई. टी. यू. सी. और कम्युनिस्टों द्वारा प्रोत्साहित रेड-ट्रेड-

यूनियन कॉंग्रेस। देश में मार्क्सवादी ताकतों को एक में लाने के ख्याल से कॉंग्रेस समाजवादी पार्टी ने बिखरे मजदूर-आन्दोलन को अपने हाथ में लिया और आखिर में पार्टी इन तीनों दलों को A. I. T. U. C. के रूप में मिलाने में सन् १९३७ में सफल भी हुई।

मिलने के समय से सन् ४२ तक पार्टी ने इस आन्दोलन में एक विशेष भाग लिया और उन दिनों बहुत महत्वपूर्ण पदों पर पार्टी द्वारा मनोनीत व्यक्ति ही थे। यहीं से पार्टी और A. I. T. U. C. के राजनीतिक-सम्बन्ध की बीच की कड़ी में चोट पड़ना शुरू हुआ। ट्रेड-यूनियन आन्दोलन अनियमित-सा देश में फैला और तब ऐसी हालत में बहुत कम राजनीतिक एकता स्थापित की जा सकी।

मजदूर-आन्दोलन की कमजोरी लड़ाई के वर्षों में बिलकुल खुल गई जब कि ए. आई. टी. यू. सी. ने महासंकट काल में भी एक बहुत मामूली भाग अदा किया। एकता नकली साबित हुई। ए. आई. टी. यू. सी. अलग-अलग हिस्सों में बँट गई जो अलग-अलग राजनीतिक पार्टियों के पोषक के रूप में काम करते थे। रायवादी लोगों ने संगठन का एक हिस्सा अलग करके उसे सरकार के साथ लड़ाई की तैयारी में लगा दिया। काम्यूनिस्टों ने मजदूर-आन्दोलन को अपनी राजनीतिक आकांक्षाओं के अनुरूप ढालना शुरू किया। इस प्रकार ए. आई. टी. यू. सी. को एक राजनीतिक लकवा मार गया।

सन् १९४२ की क्रान्ति ने मजदूरों में एक राजनीतिक चेतन उत्पन्न की और इस राजनीतिक-शिक्षा ने उन्हें समाजवादी पार्टी के असर में ला दिया। यह नया सम्बन्ध ए. आई. टी. यू. सी. में

अपने विचारों का इजहार कर सका जिससे कि रायिस्ट और काँग्रेस-वाले अलग हो गये थे और जिसपर आजकल बहुत-से बनावटी तरीकों और नकली सदस्यता के जोर से कम्युनिस्ट हावी थे। सन् ४२ के बाद से समाजवादी आन्दोलन में एक परिपक्वता आयी है। इसका तकाजा है कि पार्टी और मजदूर आन्दोलनों में एक सम्बन्ध स्थापित हो, परन्तु ए० आई० टी० यू० सी० की जैसी आज रचना है वैसी हालत में एकता स्थापित नहीं की जा सकती।

इसके अलावा ए० आई० टी० यू० सी० हड़ताल के दिनों में मजदूरों को मजबूत सहायता और मार्गदर्शन देने के काम में भी फेल हो चुकी है। युद्ध के दिनों में इसने मजदूरों के जीवन-माप पर बराबर आघात होने दिया और अभी तक नये उद्देश्यों को प्राप्त करने की दिशा में इसने कोई असली कदम भी नहीं उठाया।

राजनीतिक और औद्योगिक-संघर्ष के मेल में यह संगठन कोई अहम हिस्सा ले सकने में फेल हो चुका है।

काँग्रेसी लोग, जो सन् ४२ से पहले मजदूर-आन्दोलनों में एक सीमित दिलचस्पी रखते थे, आज मजदूर-संगठन में जुट गये हैं। खास कर सूबों में काँग्रेसी वजारतें कायम होने के बाद उनकी दिलचस्पी इस आन्दोलन में और गहरी हो गई है। अतः हिंदुस्तान-मजदूर-संघ और इंडियन-नेशनल-ट्रेड-यूनियन काँग्रेस उनकी नयी नीति का संगठनात्मक इजहार है। इन संगठनों के द्वारा मजदूरों को काँग्रेस और उसकी सरकारों के असर में लाने की कोशिश की जा रही है। काँग्रेस द्वारा पोषित यूनियनों को बढ़ने के लिये सरकारी सहायता भी दी जा रही है। ऐसी अवस्था में समाजवादी

आज आइ० एन० टी० यू० सी० या हिंदुस्तान-मजदूर-सेवक-संघ में काम नहीं कर सकते ।

इसलिए पार्टी ने 'हिन्द-मजदूर-पंचायत' नामक एक स्वतंत्र नया ट्रेड यूनियन आंदोलन खड़ा किया है और उचित समय के भीतर इसमें भिन्न-भिन्न ट्रेड यूनियनों को मिलाकर एक नयी ताकत मजदूर आन्दोलन में पैदा होगी । इससे श्रमिक-वर्ग की एकता का नारा मजबूत होगा । और इस एकता से हमारा रास्ता और अधिक आसान और सुगम बनेगा ।

यह प्रधान तथा राष्ट्र-व्यापी यूनियनों या संघों को संबंधित करेगी । नेशनल इन्डस्ट्रियल यूनियन्स खड़ी करने की दिशा में पार्टी आगे बढ़ेगी जिनके कि म्थानिक-संगठन अलग-अलग फैक्टरियों में और ट्रेड-कौन्सिलें अलग क्षेत्रों में कायम होंगी । इतने बड़े विशाल

बिना उनके सहयोग के सामाजिक-परिवर्तन संभव नहीं । राजनीतिक लोकशाही उसी भंश तक व्यापक होकर सामाजिक लोकशाही का रूप धारण कर सकती है, जिस अंश तक श्रमिक-वर्ग उत्तरदायित्व ग्रहण करता है । इसलिए समाजवादी पार्टी को मजदूर-वर्ग में अपनी जड़ें जमानی चाहिए । कल-उद्योग के क्षेत्रों में पार्टी की शाखाओं में मजदूर-वर्ग के श्रेष्ठतम व्यक्ति होने चाहिए । इसलिए पार्टी और ट्रेड-यूनियन के बीच में एक दुमुखी संबंध का विकास होना अति आवश्यक है । एक को दूसरे का समर्थन करना चाहिए और इस तरह समाजवादी चुनाव में उन्हें ताने और बाने का काम करना है ।

यूरोपीय देशों में ट्रेड यूनियनों और श्रमिक-वर्ग के दलों के बीच भिन्न संबंध पैदा हो गये हैं । ग्रेट-ब्रिटेन में मजदूर-आन्दोलन ने ही लेबर पार्टी को पूर्ण बनाया है । साम्राज्यवादी जर्मनी में हालत बिल्कुल विपरीत थी । लासले और लिबनीट के नीचे काम करनेवाले मजदूरों के राजनीतिक और कार्यशील संगठन शुरू से ही मजदूर-आन्दोलन पर अधिकार करते आये थे । लैटिन देशों में मजदूरों के राजनीतिक और कार्यशील संगठनों में बहुधा मुठभेड़ हो गई थी और ऐसी हालत में 'सैंडीकैलिज्म (Sandicalism) का फ्रांस में पैदा होना एक घटना ही है । रूस में बोलशेविज्म के एकसत्तावादी दर्शन के नीचे ट्रेड-यूनियनों से उनकी सारी स्वतंत्रता और ताकत छीन ली गई है । और वे एक प्रकार से शक्ति प्राप्त-पार्टी की सहायक बन गई हैं ।

हिंदुस्तान में, जहाँ हमलोग तंत्रात्मक समाजवाद की प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील हैं, ट्रेड-यूनियन और सहयोग-समितियों को श्रमिक-वर्ग की लोकशाही के खास केन्द्र बन जाना चाहिए । श्रमिक-वर्ग को

राजनीतिक और आर्थिक-क्षेत्रों में जिम्मेदारी ग्रहण कर सकने की शिक्षा देने के वे साधन हैं। ट्रेड-यूनियनों और काम-कमिटियों को चाहिए कि वे मजदूरों को औद्योगिक और प्रबंध-कला की ट्रेनिंग दें। यूनियन की सफलता की जाँच किसी उद्योग को उसके अधिकार में दिये जाने पर कुशलतापूर्वक उसपर नियंत्रण कर सकने की योग्यता पर निर्भर है। यह याद रखना चाहिए कि समाजवादी अर्थ-व्यवस्था के अन्दर ट्रेड-यूनियन और सहयोगी-समितियाँ ही उद्योग-धंधों के शासन और प्रबंध की जिम्मेदारी में हिस्सा लेंगी।

पार्टी ट्रेड-यूनियनों के मेल से एक मजदूर-शिक्षा आन्दोलन को बढ़ाये जिससे कि मजदूरों का—सांस्कृतिक पिछड़ापन शीघ्र दूर किया जा सके। सरकार और मालिकों से मजदूरों को शिल्प का हुनर सीखने की सुविधाएँ देने की माँग की जाय।

पार्टी अपनी ट्रेड-यूनियनों, मजदूर-कालिजों और दूसरे सभी संगठनों द्वारा ऐसे प्रूप तैयार करने का प्रयत्न करे जो योग्यतापूर्वक राष्ट्रीयकरण के अंदर आये हुए उद्योग-धंधों की जिम्मेदारी को वहन कर सकें।

पार्टी की मजदूर-नीति की यह मंशा है कि वह ट्रेड-यूनियनों, सहयोग-समितियों, लेबर-कालिजों और काम-कमिटियों द्वारा श्रमिक-वर्ग के पूर्ण विश्वास और वफादारी को जीत सके।

व्यक्तिस्वातंत्र्य—‘समाजवाद’ के सिलसिले में एक गंभीर प्रश्न पर चर्चा करना और बाकी रह गया है। यह प्रश्न बड़ा जटिल है पर समाजवादी हिंदुस्तान को इस बारे में अपनी अलग नीति है। प्रायः कहा जाता है कि व्यक्ति की उन्नति और सुख के लिये ही राज्य

और समाज की प्रतिष्ठा हुई। पर आज राज्य-शक्ति की व्यापकता दिनों-दिन व्यक्ति के अस्तित्व और महत्ता को कम करती जा रही है। और समाजवाद में तो व्यक्ति और शून्य हो जाता है। पर यह धारणा गलत है। 'व्यक्ति और समाज' को उन्नति एक दूसरे का पूरक है। उनका तटस्थ मूल्य नहीं आँका जा सकता है और न बेसा करना संभव ही है। वह समाज अपना सारी उन्नति और श्रेष्ठता के बावजूद भी कोई अर्थ नहीं रखता जहाँ अलग से श्रेष्ठ व्यक्ति की प्रतिभा जागरूक न हुई हो और इसी तरह से श्रेष्ठ व्यक्ति का अनिवार्य अन्तःश्रेष्ठ समाज ही तो है। श्रेष्ठ व्यक्ति के लिए व्यक्तिगत स्वतंत्रता भी बड़ी आवश्यक है परन्तु ऐसा व्यक्ति स्वतंत्रता और उच्छृंखलता के भेद को अच्छी तरह समझता है। और इसलिए प्रत्येक व्यक्तिगत स्वतंत्रता के अर्थ सापेक्षिक है।

आज यह शक किया जा रहा है कि 'मार्क्सवाद' का मतलब ताना-शाही ही है। यह शक एक तो रूस की घटनाओं की बुनियाद पर, दूसरे 'नेशनल सोशलिज्म' के नाम पर जर्मनी की घटनाओं के आधार पर बढ़ा है। बहुत-से आलोचकों के लिये तो दोनों ही समान हैं। कारण कि दोनों अवस्थाओं में हुकूमत का पूर्ण अधिकार रहता है, और हुकूमत असलियत में एक पार्टी के अधिकार में। यद्यपि नेतृत्व एक वर्ग से हटकर एक राजनीतिक गुट के हाथ में आ जाता है, जो समय पाकर विशेष प्रकार की ताकत का जाल अपने चारों ओर खड़ा कर लेता है। और जिस तरह पुराना उच्च-वर्ग अपने धन तथा नस्ल की उच्छता की बदौलत अधिकार युक्त हुआ था, उसी तरह यह नया नेतृत्व आगे चलकर जन-साधारण की आवाज का प्रतीक नहीं रहता। इसका जन-संपर्क धीरे-धीरे खत्म हो जाता है। ऐसी हालत 'अवसर

का समान अधिकार' वाले सिद्धान्त के अनुसार ही पड़ती है क्योंकि इसमें एक सामान्य युवक मैनेजर के उच्च पद तक पहुँच सकता है। लेकिन वास्तव में यह समाजवादी समाज की नीति नहीं है। यह हमें इस बात के लिये आगाह करता है कि हम आदर्श-मूलक शब्दों के जाल में पड़कर संकीर्ण न हो जायें जैसा कि अक्सर समाजवादी भी फँस जाते हैं। अर्थ-समाजवादी समाज में वर्ग-शासन रह ही जाता है। इस तरह हम फिर उद्देश्य तक पहुँचने की पद्धति (Process) पर ही आ जाते हैं। साधन बहुत हद तक साध्य ही होते हैं क्योंकि लक्ष्य प्राप्ति से मूलतः एक अनुभूति ही होती है इसलिए लोकतन्त्रात्मक व्यावहारिकता हर एक 'समाजवादी' की जिन्दगी की रस्म होनी चाहिए और ऐसी ही व्यावहारवादिता समाजवादी पार्टी की रीति-नीति होनी चाहिए जो प्रजातांत्रिक समाजवादी हुक्मत कायम करना चाहती है।

आम तौर पर तानाशाही प्रवृत्तियों के विकास की सारी जिम्मेवारी एक ही व्यक्ति पर थोपना गलत होगा यानी स्तालिन को ही पूर्ण दोषी करार देना ठीक नहीं है। सही बात जानने के लिये हमें रूसी-क्रान्ति के पहले की अवस्था तथा समाजवादी हुक्मत कायम करनेवाली पार्टियों के स्वरूप पर गौर करना होगा। क्या वे प्रजातंत्र में विश्वास रखते थे ? क्या पार्टियों ने ऐसे उपाय सोचे थे जिनके द्वारा प्रजातंत्र को अमल में लाया जा सके ? क्या वे व्यक्ति के अवयव विकास के लिये सजग थे ? क्या वे दमन के नाशकारी प्रभावों से सावधान थे ? इन्हीं सवालों के जवाब में रूस की उलझन छिपी है। भावी समाजवाद की समस्याओं का हल इसी उत्तर से मिलेगा। जब तक उद्देश्य के अनुरूप व्यवहार और पद्धति दोनों प्रजातांत्रिक नहीं होंगे तब तक न तो समाजवाद की प्रतिष्ठा सम्भव है और न व्यक्ति की स्वतंत्रता। क्योंकि

पार्टी की व्यवहार और पद्धति ही यह निर्धारित करती है कि उसके द्वारा किस किस्म की व्यवस्था पैदा होगी ? इसलिए लक्ष्य तक पहुँचने के साधन जिस तरह के हैं इस बात से हम भविष्य की तस्वीर खींच सकते हैं। रूस और जर्मनी ने लक्ष्य तक पहुँचने के साधनों की कभी परवाह नहीं की। बगावत के ज्वार में उन्होंने सत्ता पर अधिकार किया। इसलिए उन दलों के एक सत्तावादी स्वरूप में ही प्रजातंत्र का विनाश निहित था। कारण इस आदर्श ने सामूहिक कार्यों में व्यक्ति स्वातंत्र्य का कोई मान निश्चित नहीं किया था। उनके लिए व्यक्ति स्वातंत्र्य वगैरह बुर्जुआ खुराफात-जैसे थे। उनके इन बारीकियों के लिये न तो वक्त ही था और न धीरज ही। ऐसे दल द्वारा तो एक तंत्रात्मक सामाजिक स्वरूप की ही स्थापना हो सकती है।

समाजवादी पार्टी का अपने सभी कार्य-कर्त्ताओं से यह आग्रह है कि वे केवल प्रजातंत्र के आदर्श पर विश्वास ही न रखें वरन् उसे अमल में लाने की कोशिश करें। और यही एक समाजवादी की परख होनी चाहिए, क्योंकि सच्चे समाजवाद और प्रजातंत्र का संबंध अटूट है।

मार्क्सवाद को 'तानाशाही' के रूप में देखना गलत है। मार्क्सवाद की यह निश्चित मान्यता है कि समाजवादी योजना की बुनियाद पर बना समाज राज्य के अस्तित्व को क्रमशः लुप्त कर देगा। राज्य आखिर तो जनमत तथा कानूनी समर्थन पाकर शासन का एक संगठित रूप ही है। हमारे व्यावहारिक-दिमाग को यह दार्शनिक अराजकता भले ही काल्पनिक लगे, लेकिन यह तो साफ है कि मार्क्सवाद कभी भी तानाशाही से या एक तंत्रात्मकवाद से जुड़ा नहीं है। मार्क्सवाद का यह निश्चित उद्देश्य है कि भौतिक संभावनाओं का आविष्कार हो

इसमें प्रगतिशील व्यक्तियों तथा आन्दोलनों द्वारा स्थापित सांस्कृतिक और राजनीतिक स्वतंत्रता के आदर्श की अधिक से अधिक पूर्ति हो सके। हर एक क्रान्तिकारी सुधारक के सामने जो प्रश्न रहता है, वह है—“ सामूहिक जीवन में व्यक्ति का स्थान ” इसी के उत्तर में प्रजातंत्र ही क्यों, का उत्तर भी जुड़ा है। हमारे आज के समाज को सिर्फ ऐसे उद्देश्यों से “ अपने समान पड़ोसी को प्यार करो, ” प्रभावित नहीं किया जा सकता। किसी भी व्यक्ति के दिमाग में जब तक यह तर्क बैठा नहीं दिया जायगा कि व्यक्ति की भलाई समूह से पृथक् नहीं तब तक वह इसके लिए कोशिश करनेवाला नहीं। इसके लिए हमें पारस्परिक जिम्मेदारी की ठोस परंपरा भी स्थापित करनी होगी। और निश्चय ही इस जिम्मेदारी में सामंजस्य की भावना भी निहित है। ऐसी जिम्मेदारी का मतलब बौद्धिक तथा सामाजिक इकाई भी होता है। इस तरह एक ओर जहाँ विचारों तथा कार्यों में व्यक्ति की समाज के प्रति जिम्मेदारी है, वहाँ दूसरी ओर समाज की भी व्यक्ति के प्रति जिम्मेदारी है।

नासिक से पटना

आज इस देश की जनता के लिये 'समाजवाद' एकदम कोई नया शब्द नहीं रह गया है। देश के कुछ हिस्सों में जनता के सुख-दुःख की कहानी के साथ इसने अपने को मिला दिया है फिर भी आज बहुत से अंशों में यह बुद्धिवादियों तक ही सीमित है। अतः जरूरत अब इस बात की है कि अपने देश के समाजवादी आन्दोलन को हर पहलू से समझने को कोशिश लोग करें। समाजवाद को इस देश के अनुरूप ढालने के लिये हमें केवल सैद्धान्तिक चर्चाओं तक ही नहीं रह जाना चाहिए वरन् 'भारतीय समाजवाद' को व्यवहार की कसौटी पर कस हमें उसके अमली पक्ष का परीक्षण भी करना चाहिए। क्योंकि मौजूदा हालातों की क्रिया-प्रतिक्रिया के संघर्ष के भीतर से ही निखरा समाजवाद उत्पन्न होता है। सिद्धान्त के ढाँचे पर यही अमल मॉन और रक्त बनकर उसे स्वस्थ और जीवनमय बनाता है। गत वर्ष नासिक सम्मेलन के मौके पर पार्टी ने अपनी नीति में कुछ परिवर्तन किये थे। अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिये साध्य-साधन की एक रूपता पर उसने जोर दिया था। काँग्रेस से अलग होकर अपने स्वतंत्र कार्यक्रम को आगे चलाने का निश्चय भी पार्टी ने नासिक में ही किया था। यह सब तबदीलियाँ विशेष हालातों में हुईं और मुल्क की इस अन्दरूनी हालत ने ही पार्टी को हमेशा नयी-शकल में आने को मजबूर किया। और यही कारण है कि आज से एक वर्ष पहले जो पार्टी चन्द सक्रिय सदस्यों तक ही महदूद थी आज अपनी साया और असर को आमफहम तक फैलाने की दिशा में गतिशील है। नासिक

से पटना तक का जमाना इस देश के लिए बड़ी अहमियत रखता है। आजादी और नागरिक स्वतंत्रता के परवाने अपनी कसमें भूल चुके थे। जिन बातों का कॉंग्रेस घोर विरोध करतो थी आज वह उनकी पोषक बन गई थी। 'चतुर्मुखी आजादी' के नारों को पैरों तले रौंदा जाने लगा था। युद्ध-काल की समस्याओं ने और भयंकर रूप धारण कर लिया था। देश की माली-हालत की कमर टूट रही थी। चर्चाएँ होतीं पर बात जहाँ के तहाँ रहती। कॉंग्रेसी वजारतें अपनी गद्दी के पावों को मजबूत करने में जुटी थीं। प्रेम और सेवा के बल ने जुल्मों-जोर की शकल अख्तियार कर ली थी। जनता का सब्र दम तोड़ने लगा था। घोर निराशा की हाज़त में मुल्क को एक ऐसे संगठन की ज़रूरत है जो उसके लड़खड़ाते पैरों में नयी गति भर दे। जो अंधकार भरे रास्ते से निकाल कर उसे प्रकाश की ओर ले जा सके। पार्टी ने जनता की इस मनस्थिति को भली प्रकार समझा और इसके बाद उसने अपने सीमित और छोटे दायरे से निकलकर जनता के बीच पहुँचने का निश्चय किया। पटना के बाद पार्टी की सदस्यता के द्वारा आम लोगों के लिये भी खुल गये हैं। अब उसने एक व्यापक जन संगठन का रूप ले लिया है। क्योंकि इस मौके पर पार्टी यदि ऐसा न करती तो यह बिखरा जनबल या तो निराशा के गर्त में हमेशा को गिर जाता या देश की बाहरी ताकतें उसे देश के खिलाफ खड़ा कर अपना उल्लू सीधा करतीं। ऐसी अवस्था में पार्टी को जनतंत्रात्मक समाजवादी संगठन की ओर ही कदम बढ़ाना था और पटना सम्मेलन में ऐसा निश्चय करके पार्टी ने एक बहुत माकूल निर्णय किया है।

नये हालात, नया संगठन—विदेशी हुकूमत से हिन्दुस्तान व आजाद होने पर देश में नयी हालातें पैदा हुईं। इसलिये पार्टी के

अपने मकसद तक पहुँचने के तौर-तरीकों पर भी फिर से विचार करना पड़ा। इसी समय एक नये आधार पर पार्टी को खड़ा करने की जरूरत महसूस हुई। कानपुर सम्मेलन में पार्टी ने अपने नाम से 'काँग्रेस' शब्द हटाकर गैर-काँग्रेसियों के लिये भी उसका रास्ता खोल दिया था। एक स्वतंत्र राजनीतिक पार्टी बनने की दिशा में यह पहला कदम था। इसके बाद नासिक-सम्मेलन में पार्टी ने काँग्रेस से अपने १४ वर्ष पुराने सम्बन्ध को तोड़कर फिर एक नया कदम आगे की ओर रखा। अब पार्टी के बढ़ते हुए काम के लिये यह जरूरी हो गया था कि वह अपना दायरा और थोड़ा करे, इसलिए नासिक-पटना के बीच के समय में बराबर राष्ट्रीय-कार्य-कारिणी की बैठकों में 'पार्टी की आम सदस्यता विषयक' चर्चाएँ होती रहीं। महावलेश्वर बैठक के समय पर कार्य-कारिणी ने इस बात पर खूब बहस की और स्वयं भी जयप्रकाश नारायण ने 'पार्टी-विधान पर एक रिपोर्ट' पेश की जिसमें उन्होंने बड़े जोरदार शब्दों में आम-सदस्यता का समर्थन किया। इस प्रकार पटना आने तक बहुत बार इस विषय पर गम्भीर वाद-विवाद हो चुका था और उसकी एक शकल भी बन गई थी। पटना-सम्मेलन में बहुत-से फैसले हुए हैं। ये सारे फैसले एक ही जंजीर की अलग-अलग कड़ियाँ हैं। ढाँचे में जो परिवर्तन हुए उनका आधार नया कार्यक्रम है। नये प्रस्ताव पार्टी का एक ढाँचा तैयार करते हैं और 'आगे की ओर' वाला प्रस्ताव उसमें नया जीवन डाल देता है।

नई दिशा—पटना सम्मेलन में श्री जयप्रकाश नारायण ने नये मसविदे में प्रस्ताविक प्राथमिक सिद्धान्तों पर फिर से विचार करने का प्रस्ताव किया और पार्टी का आधार व्यापक करने की जरूरत समझाई।

करीब १ घंटे की गरमा-गरम बहस के बाद इस प्रस्ताव को तीन-चौथाई बहुमत से मान लिया गया। कुछ लोगों का विश्वास था कि प्रजा-तांत्रिक उपायों द्वारा समाजवाद स्थापित नहीं हो सकता इसलिए अपने हाथों में सत्ता लाने के लिये कभी न कभी सशस्त्र क्रान्ति का सहारा लेना ही पड़ेगा। और इसलिए गतिवान्, क्षमतापूर्ण, आदरन क्रान्तिकारी लोगों की पार्टी ही लक्ष्य तक पहुँच सकती है। इन लोगों के विचार से वर्तमान सरकार प्रजातांत्रिक नहीं है। इसके नमूने रोज मिलते हैं। मौजूदा सरकार की प्रत्येक कार्यवाही फासिस्टवादी है; अतः इस देश का आज का वातावरण जनतन्त्रात्मिक समाजवाद के अनुकूल नहीं है और जब ऐसी बात है तो पार्टी की सदस्यता को आम जनता तक पहुँचाना खतरे से खाली नहीं है। परन्तु विरोधी साधियों की शंकाओं का जवाब देते हुए श्री जयप्रकाश नारायण ने देश की हालत का एक सजीव चित्र लोगों के सामने रखते हुए इस बात पर जोर दिया कि सोशलिस्ट पार्टी मौजूदा प्रवृत्तियों के खिलाफ लड़े और समाजवाद की स्थापना के लायक अनुकूल वातावरण तैयार करे। प्रजातांत्रिक समाजवाद के लिये पहले प्रजातांत्रिक वातावरण तैयार करना होगा। पार्टी की नीति और रीति में पार्लियामेन्टरी और गैर-पार्लियामेन्टरी तरीके भी शामिल हैं, जैसे जनता का संगठन, हड़ताल, सत्याग्रह और चुनाव इत्यादि। प्रजातांत्रिक रीति मानने के यह मानी नहीं हैं कि हम सिर्फ विधानवादी-नीति ही अपनायेंगे। जो बात प्रजातांत्रिक रीति में शामिल नहीं है वह है गैर जिम्मेवारी से सशस्त्र विद्रोह करना। पटना-सम्मेलन के समय इस बात का राजनीतिक प्रस्ताव में बड़ी खूबी के साथ स्पष्टीकरण किया गया है कि अभी सशस्त्र विद्रोह की बात करने का यही नतीजा होगा कि

प्रतिगामी शक्तियाँ मजबूत होंगी और फासिस्ट तानाशाही को मन-मानी करने के लिये और बल मिलेगा। इसके बावजूद एकाएक सशस्त्र क्रान्ति सफल भी हो जाय तो उससे समाजवाद, मार्क्सवादी विचार की मजबूत डिक्टेटरशिप स्थापित नहीं हो सकती। बल्कि अनिर्धार्य रूप से आम जनता पर थोड़े से विवेकहीन लोगों की तानाशाही कायम हो जायगी।

तब यह क्यों माना जाय कि अगर पार्टी को जनता की पार्टी बना दिया गया तो वह केवल सुधारवादी पार्टी ही रह जायगी ! स्वयं मार्क्स ने समाजवादी आन्दोलन की कल्पना ही इस आधार पर की थी कि बहुत बड़ी संख्या में जनता का स्वतः जागरूप आन्दोलन ही समाजवादी आन्दोलन हो सकता है। और उनका हमेशा ऐसा विश्वास था कि सर्वहारा-वर्ग का एक जन-संगठन ही सामाजिक परिवर्तन का उचित साधन हो सकता है। इसलिए पार्टी के सुधारवादी बन जाने के डर से उसे व्यापक न बनाना भारी भूल होगी।

वाद-विवाद के बीच कुछ साथियों का ऐसी मान्यता थी कि नये विधान के जरिये चुनाव का ताकतवर मशीन खड़ी की जा सकती है मगर पार्टी की क्रान्तिकारी प्रवृत्ति को यह कदम दबा देगा। परन्तु इस तर्क में कोई जान नहीं है। क्योंकि हम चुनाव से भागते नहीं हैं। यह चुनाव हमारा एक हथियार है और बड़ा हथियार है। इसकी उपेक्षा भी नहीं की जा सकती। इसके महत्त्व को न समझना आत्मघात करना होगा। तब नये विधान का यह मतलब कतई नहीं है कि बैलेट-बॉक्स में कोई दोष नहीं है और इसीलिए ऐसे मौकों पर हमने अपने 'सत्याग्रह' के हथियार को सुरक्षित रखा है। वैधानिक तरीका पार्टी के लिये कोई मूल विश्वास का आधार नहीं है जिसका

कि हम हिमायत करें। केवल वैधानिक चर्चा में चिपटने से पार्टी को लकवा मार सकता है। इसलिए जिस तरह के विधान का मसौदा पटना-सम्मेलन में साथियों के सामने पेश किया गया है वह वैधानिकता और सुधारवाद को प्रश्रय नहीं देता है, बल्कि इससे पार्टी का चौमुखी विकास होगा और इसी कारण चुनाव के मोर्चे पर भी हमें यह मजबूत करेगा।

फिर आज देश में प्रभावशाली राजनीतिक ताकत बनने के लिये आवश्यक है कि वह अपने क्षेत्र को और फैलाये। यों तो आज भी पार्टी का आधार जनता ही है, मजदूर और किसान इसके नेतृत्व को मानते हैं। लेकिन इतना मानना पड़ेगा कि आज उनके अन्दर पार्टी के प्रति 'अपनत्व' नहीं है। आज वे यह नहीं समझते कि पार्टी उनकी अपनी है और वे इसके एक हिस्से हैं। परन्तु इस नये विधान के लागू होने पर पार्टी सच्चे माने में जनता को पार्टी हांगी और तब वह जनता की आशा और आकांक्षाओं का अधिक सच्चाई के साथ प्रतिनिधित्व कर सकती है। अब हर मजदूर और किसान अनुभव करेगा कि यह पार्टी उनकी पार्टी है। वे इसे बढ़ाने में जरूर मदद करें और अपनी राहत के लिये इसे उचित हथियार बनावें।

नया विधान—पाठकों की जानकारी के लिये पटना-सम्मेलन के सबसे महत्वपूर्ण प्रस्ताव (नया विधान) को थोड़े में यहाँ (रखने की कोशिश की जाती है)।

(१) सोशलिस्ट पार्टी ने अपने नये विधान द्वारा निश्चित किया है कि हिन्दुस्तान के समाजवादी समाज को कायम करना ही उसका [१] राष्ट्रीय उद्देश्य है। पर उसके साथ ही साथ दूसरे देशों की

समाजवादी ताकतों से मिलकर रंगभेद, साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद और सब प्रकार के राष्ट्रीय-उत्पीड़न और राष्ट्रों के बीच आर्थिक असमानता का अन्त करना पार्टी का [२] अन्तर्राष्ट्रीय उद्देश्य है। कोई भी व्यक्ति जिसकी उम्र १८ वर्ष या इससे अधिक हो और जो पार्टी के उद्देश्य, नीति, कार्यक्रम तथा अनुशासन को मानता हो, पार्टी का सदस्य बन सकता है। वशर्ते कि (१) वर्ण तथा जाति-भेद में कोई आस्था न रखता हो और न वैसा आचरण करता हो, (२) वह किसी ऐसी राजनीतिक पार्टी या संगठन का सदस्य न हो जिसकी सदस्यता पार्टी की सदस्यता से असंगत हो, (३) अगर वह पार्टी से संबंधित किसी मजदूर सभा, किसान-पंचायत या सस्था का सदस्य हो सकने योग्य हो तो उसका भी सदस्य हो। व्यक्तिगत सदस्यों के अलावा मजदूर-यूनियन, किसान-संगठन, समाजवादी-युवक-संगठन और सांस्कृतिक संगठन पार्टी के सदस्य हो सकते हैं वशर्ते कि वह, (१) पार्टी के उद्देश्य, नीति तथा कार्यक्रम को स्वीकार करते हों (२) उसके विधान तथा नियमों को अंगीकार करते हों, (३) राष्ट्रीय-कार्यकारिणी की सम्मति में सच्ची संस्था में हों, और (४) वोट करनेवालों के ६० प्रतिशत बहुमत से पार्टी से संबंध स्थापित करने का फैसला करें, और जैसी विधि नियमों में निर्धारित की जाय उस विधि के अनुसार ऐसा करें। विधान में यह भी निश्चित हुआ है कि संबंधित संगठनों के प्रतिनिधियों के लिये पार्टी का व्यक्तिगत सदस्य और उन संगठनों का सदस्य या पदाधिकारी होना आवश्यक होगा; कोई भी व्यक्ति जो ६ मार्च १९४९ तक पार्टी का मेम्बर नहीं बन गया है, पार्टी के किसी चुनाव में उम्मीदवार नहीं बन सकता जब तक कि वह कम-से-कम १ साल से पार्टी का

मेम्बर न हो; कोई सदस्य पार्टी की किसी कार्यसमिति का सदस्य नहीं हो सकता जब तक कि वह पार्टी को राष्ट्रीय-कार्यकारिणी के आदेश के अनुसार कम-से-कम १४ घंटे प्रति सप्ताह काम न करता हो। नये विधान में राष्ट्रीय-कार्य-समिति को ही पार्टी से संस्थाओं को संबंधित करने और अलग करने का अधिकार होगा। संबंधित संस्थाओं का स्थानोप-कमिटियों और नगर-कमिटियों से सीधा संबंध होगा और निश्चित अनुपात के अनुसार उन संस्थाओं को उन कमिटियों में अपने प्रतिनिधि भेजने का हक होगा। चुनाव के भ्रमों को कम करने के लिये निश्चय किया गया है कि स्थानीय कमिटी के सदस्य ही जिला कौंसिल के सदस्य होंगे और जिला-कौंसिल और नगर-कौंसिल के सदस्य ही प्रान्तीय-कान्फ्रेंस के सदस्य होंगे। पर राष्ट्रीय-कान्फ्रेंस के डेलीगेटों का चुनाव व्यक्तिगत-सदस्य और संबंध-सदस्य स्वयं करेंगे। पहले की तरह ही जनरल कौंसिल और राष्ट्रीय कोई समिति होंगी जिनका चुनाव राष्ट्रीय-कान्फ्रेंस के डेलीगेट करेंगे। इसी तरह प्रान्तीय-कौंसिल और प्रान्तीय-कार्य-समिति के सदस्यों का चुनाव प्रान्तीय-कान्फ्रेंस से होगा। नये विधान के अनुसार राष्ट्रीय, प्रांतीय और जिला-कमिटियों के मंत्री वही होंगे जो पार्टी के लिये अपना सब समय देते हों। दूसरे पदाधिकारियों के साथ-साथ राष्ट्रीय और प्रान्तीय सभापतियों का चुनाव भी राष्ट्रीय और प्रान्तीय-कान्फ्रेंसों के वार्षिक अधिवेशनों में होगा और ये सभापति अगले वर्ष के कान्फ्रेंसों की सदस्य करेंगे। नये विधान में उन नगरों में जिनकी आबादी तीन लाख या अधिक है, अलग नागरिक कौंसिलें बनाई जायगी जो जिला कौंसिलों से स्वतंत्र और उनके बराबर की पद की होंगी। इस प्रकार नये विधान में पार्टी का दरवाजा शांण-मुक्त

समाजवादी समाज की स्थापना के लिये खोल दिया गया है। और पार्टी से श्रमिक वर्गों के संबंध जोड़ने का प्रबन्ध कर दिया है। समाजवादी पार्टी नये विधान के अन्तर्गत शोषित जनता की विशाल पार्टी बना सकेगी। विशाल जन-पार्टी में अवसरवादियों द्वारा नेतृत्व पर अधिकार कर लेने का जो खतरा रहता है, उसे कार्य-समिति के सदस्यों के लिये सक्रिय होने के नियम को बनाकर दूर करने का प्रयत्न किया गया है।

उपरोक्त विधान संबन्धी प्रस्ताव के अलावा सम्मेलन में और भी कई महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव पास किये गये थे जिनकी सूची देना मात्र काफी होगा—बढ़े चलो (कार्य-क्रम) इसको प्रधान धाराएँ इस प्रकार हैं :—

(१) नई जमीन में खेती करने के लिये भूमि-फौज की स्थापना की जाय और राज्य द्वारा उनके खाने, कपड़े तथा भत्ते की व्यवस्था। जनता के हर एक वर्ग से लोग इस फौज में शामिल हों और कालिजों में इस लक्ष्य के लिये राष्ट्रीय-सेवा की प्रथा चालू की जाय।

(२) सभी कानूनी और गैर-कानूनी बेदखली और जमींदारों द्वारा नई बन्दोबस्ती तत्काल बन्द हो, जोतनेवालों की मवेशियों की रक्षा हो; भूमि-कर में अब कोई बढ़ती न हों; जमीन का फिर से बँटवारा हो ताकि तीन-वर्ष के अन्दर हर एक को कम-से-कम १२½ एकड़ मिले और एक कृषक परिवार के लिये कम-से-कम ३० एकड़ हो और पुनर्वास का उचित प्रबन्ध हो।

(३) गाँव और जिला-सभाओं को-आपरेटिव सोसाइटियों के द्वारा विकास खर्च दिये जायें।

(४) मध्यम और छोटे उद्योगों के लिये राज्य की सहायता, हर एक

श्रेणी के लिये पॉलीटेकनिक स्कूल और ऊँची योजना के लिये वैज्ञानिक अनुसंधान ।

(५) बैंक, बीमा, खान, बिजली और ब्रिटिश मिल्कियत का राष्ट्रीयकरण और स्वतंत्र कारपोरेशनों द्वारा उनका इन्तजाम ।

(६) मजदूरी करनेवाले और तनख्वाह पानेवाले सभी लोगों के लिये जीविका योग्य मजदूरी, मँहगाई भत्ता, कीमतों के सांकेतिक नंबर के अनुपात में हो ।

(७) कीमतों का कम करना और कृषि और औद्योगिक वस्तुओं के दाम में समानता का सिद्धान्त मानना, चुने हुए जिलों में सहयोगों आधार पर गाँव और शहर के बीच व्यापार ।

(८) राजकाज-प्रबन्ध विभाग को भरी के आधार को ऊँचा करना, स्वतंत्र देश के अनुरूप ग्रेड पर फिर से विचार; भारतीय आर्थिक-सेवा की संस्था कायम करना ।

(९) राज्य, सरकार और राजनीतिक पार्टियों के हक और काम की मर्यादाएँ स्पष्ट रूप से निर्धारित हों और नागरिक स्वतंत्रता का अपहरण कदापि न हो ।

(१०) शरणार्थियों को फिर से बसाने के लिये सुनियोजित ढंग से सरकारी सहायता ।

यह प्रस्ताव एक प्रकार से पहले प्रस्ताव का पूरक है । पहला प्रस्ताव हमें एक लक्ष्य का संकेत करता है और यह 'आगे बढ़ो' वाला प्रस्ताव उस तक ले जाने का रास्ता निश्चित करता है । सिद्धान्त और कार्य, उद्देश्य और व्यवहार का समन्वय इन दो प्रस्तावों द्वारा होता है । अतः ये दोनों ठहराव प्राण और शरीर की तरह एक दूसरे से गुथे हैं ।

इन ठहरावों के अलावा, राजनीतिक परिस्थिति, आर्थिक-परिस्थिति नागरिक-स्वतंत्रता, भारत का नया विधान, हिन्दुस्तान और राष्ट्रमंडल-विदेशी बस्तियाँ, नैपाल, खाद्य-संकट, सरहद्दी-गाँधी और खुदाई खिदमतगार और राष्ट्रभाषा संबन्धी प्रस्ताव भी इस अधिवेशन के मंच से पास किये गये ।

इस एक वर्ष के भीतर जहाँ हमारे निश्चय में दृढ़ता और तेजी आई वहीं काटों और खारों की कमी भी नहीं रही । हमारा लक्ष्य साफ हुआ पर हमारे रास्ते में बिछे हुए पत्थर और बड़े । विगत वर्ष के इन्हीं फूल-काटों के अनुभव से पार्टी ने जो कुछ सीखा, जो अनुभूति प्राप्त की, उसी सब की अभिव्यक्ति पटना मंच से हुई । और इस प्रकार आज इस देश को समाजवादी पार्टी केवल मार्क्स की छाया-मात्र नहीं है । उसने मार्क्सवादी सिद्धान्तों से समाजवादी तत्वों की रूढ़ को ग्रहण किया और देश-काल के अनुरूप उसे हिन्दुस्तानी पोशाक पहनाकर जनता के अधिक-से-अधिक अनुकूल बनाने की कोशिश की । समाजवादी पार्टी ने इस तथ्य को कभी अपने सामने से दूर नहीं किया कि इस देश की अपनी कुछ परंपरायें हैं, कुछ नैतिक स्तर हैं जिनकी उपेक्षा करके कोई जन-आन्दोलन इस देश में मजबूत नहीं हो सकता ।

उपसंहार

पिछले अध्यायों में समाजवाद के कुछ सैद्धान्तिक और कुछ व्यावहारिक पक्षों पर प्रकाश डाला गया है। यों तो जहाँ तक सिद्धान्त का प्रश्न है प्रायः बहुत-सी पार्टियों और संगठन अपने सामने ऊँचे आदर्श रख कर ही चलते हैं। जहाँ तक काँग्रेस का प्रश्न था उसका आदर्श भी ऊँचा ही था। समाजवादियों की तरह 'किसान-मजदूरों' के राज का नारा काँग्रेस भी लगाती रही है। पर सत्ता और अधिकार की प्राप्ति के साथ उसने सिद्धान्त से समझौता कर लिया। सिद्धान्त के प्रति उसका वह आग्रह और तड़पन कायम न रह सकी जो पिछले दिनों में थी। इसके कुछ कारण थे। प्रथम तो आजादी की लड़ाई की बात को छोड़ कर किसी भी कार्य या प्रोग्राम का स्पष्ट चित्र काँग्रेस ने जनता के सामने नहीं रखा। आजादी को वह सब रोगों को दवा मान कर चलती रही। इसलिए दूसरी निर्माण की बातों के प्रति वह इतनी जागरूक भी नहीं रही। आजादी की लड़ाई में बल लाने के लिये जिस श्रेणी और वर्ग के सहयोग की आवश्यकता पड़ी, वह उन्हें अनुकूल नारे की आवाज देकर उकसाती रही। किसान-मजदूरों के बीच उसने समाजवाद का नारा लगाया। धनियों और पूँजीपतियों के सामने हृदय-परिवर्तन और ट्रस्टीशिप की बात की। व्यापारियों के सामने स्वदेशी व्यापार के सुनहले स्वप्न रखे। सिद्धान्तः ये नारे एक दूसरे के विरोधी थे पर ये न केन प्रकारेण आजादी की जंग में उत्साह लाना था। काँग्रेस ऐसा करने में सफल हुई। पर इसके बाद की गति आज शिथिल और निर्जीव-

सी है। और वह इसलिए कि उन पुराने नारों का मेल बैठकर सब को खुश रखकर चलना आज व्यावहारिक नहीं है। इसीलिए उसकी बहुत-सी नीति फेल हो रही है। काँग्रेस की असफलता ने एक बात और साफ कर दी है कि ऊँचे नारों को घोषणा या सिद्धान्तों की चर्चा बिना काम के खोखली होती है। इसका असर आज जनता पर पड़ा है। वह पहले से कुछ अधिक सावधान है। और इसलिए वह पृष्ठना चाहती है कि 'समाजवादियों' के पास ऐसी कौन-सी गारण्टी है जिससे हमें विश्वास हो कि वे भी काँग्रेस की तरह भटक नहीं जायेंगे? प्रश्न स्वाभाविक है। शका भी उचित ही है। पर इसको उत्तर 'समाजवाद' के पास है।

जहाँ तक आदर्श और व्यवहार का प्रश्न है समाजवाद का एक ही आदर्श है और एक ही व्यवहार। अपने इस उद्देश्य के प्रति वह पूर्ण निष्ठावान है इसलिए भविष्य में किसी प्रतिक्रियावादी ताकत से समझौता करने की बात ही नहीं उठती। पर यह तो विश्वास की बात हुई, सावधानी की नहीं। हमारे पास जहाँ एक ओर उद्देश्य के प्रति अविचल आग्रह है वहीं सावधानी का सम्बल लेकर भी हम चले हैं। सर्वप्रथम तो साध्य और साधन की घोषणा करते समय 'समाजवाद' ने उन सैद्धान्तिक बातों की सार तौर से खोलकर रख दिया है। उसमें समझौते या किसी की दिलजोई की बात ही नहीं उठती। 'समाजवाद' का यह विश्वास है कि संक्रान्तिकाल में उसे स्वार्थरत और प्रतिक्रियावादी ताकतों से लड़ना ही पड़ेगा। विधान और कानून की सहायता से उनके स्वार्थ के चक्रव्यूह को तोड़ना ही पड़ेगा। इसलिए 'पूँजीवाद' हमें कभी दोस्त समझने की भूल न करे। हमारे सारे आन्दोलन की बुनियाद किसान, मजदूर और पीड़ित मध्यमवर्ग

पर निर्भर करती है। इसमें सिद्धान्तवादी बुद्धिजीवियों का सहयोग मिलेगा लेकिन किसान-मजदूरों के नाम पर विधान सभाओं और ऊँचे-ऊँचे पदों पर ये ही लोग बैठे न दिखलाई देंगे। 'समाजवाद' इस देश में कभी पनप नहीं सकता अगर उसने ऐसा किया। उसका 'पेशेवार' कामों के प्रतिनिधित्व में विश्वास है और इसलिए पार्टी का बह आग्रह है कि सच्चे मानी में विधान सभा आदि में किसान और मजदूर ही जायँ। अपने हित और स्वार्थ के वे ही सच्चे रक्षक हो सकते हैं। काँग्रेस के चुनाव जिन लोगों ने देखे हैं वे जानते हैं कि 'किसान' के रक्षक बनकर धारा-सभाओं में जमींदार गये, धनी लोग गये। ऐसे लोग गये जिनके दर्शन उस 'चुनाव-क्षेत्र' में कभी फिर किसी को नहीं हुआ। प्रजातंत्र की कितनी मखौल हुई। जो एक विशेष-क्षेत्र के हित की थाती लेकर चला हो वह चुनाव के बाद एक बार वहाँ यह पूछने भी न जाय कि वहाँ की जनता को क्या कुछ कहना है? इसलिए सबसे बड़ी सर्त्तकता चुनाव या प्रतिनिधियों के विषय में चाहिए। नगर और शहरों से अलग-अलग काम करने वालों का प्रतिनिधित्व हो और देहाती क्षेत्र से अधिकांशतया किसानों को ही प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए। अगर इस देश की समाजवादी पार्टी अपने इस चुनाव-सम्बन्धी विषय में कड़ी और कठोर रही तो वे भूले न होंगी जो काँग्रेस से हुई।

जो लोग रूस की घटनाओं की पुनरावृत्ति से डरते हैं वे महान भूल करते हैं। हिन्दुस्तान और रूस के उस जमाने में काफी अन्तर है। भावनाओं और संस्कारों में अन्तर है। परम्पराएँ भिन्न हैं। ऐसी हालत में 'समाजवाद' को लाने में हमें बड़ी करना पड़ेगा जो रूस ने किया ऐसा मानना इतिहास और विज्ञान दोनों के प्रति अज्ञान

प्रेदर्शित करना है। हिन्दुस्तान जार के समय का रूस नहीं है। हमें काफी आजादी मिली है। नये विधान के अनुसार बालिग मताधिकार भी देश को मिलने जा रहा है। इस अवस्था में अगर हमारा काम ठोस और जन-कल्याण का रहा तो जनता हमारा साथ अवश्य देगी। हाँ, यह हो सकता है कि वर्त्तमान सत्ता और पद के दबाव में सत्ता-धारी-दल का विरोध करने में हमारे सामने कठिनाइयाँ हों, चुनाव में सत्ता सम्पन्न लोग उसका फायदा उठायेँ फिर भी हम खुलकर काम कर सकते हैं। सारे सम्भव विरोध के बावजूद भी हमारे प्रचार को खुल्लम-खुल्ला बन्द करने की हिम्मत सत्ताधारी भी नहीं कर सकते क्योंकि हमारा उद्देश्य साफ है, हमारा रास्ता साफ है फिर किस बहाने को लेकर वे उसे रोक सकते हैं। हमारे संगठन का विधान स्पष्ट है। सरकार उसपर वही मुहर नहीं लगा सकती जो उसने आर० आर० एस० पर लगाई है।

यह ठीक है कि हिन्दुस्तान का शासक-वर्ग साम्राज्यवाद का छोटा भाई है। पहले ये नौकरशाही के भक्त थे आज ये काँग्रेस सरकार के सिद्धान्त और नीति इनके आगे ज्यादा मूल्य नहीं रखती। अपने व्यवहार और कार्य में इसीलिए जैसा कि उन्हें होना चाहिए निस्पृह और तटस्थ नहीं रह पाते। इधर काँग्रेस भी धीरे-धीरे पूँजीवाद के प्रभाव में आती-जाती है। परन्तु पूँजीवाद तो काफी बदनाम हो चुका है। अतः देश में समाजवादी विचारधारा की पुकार की सम्भावनाएँ आज पहले से कहीं अधिक हैं। हमें संगठन का अपना नया तरीका निकालना होगा जो मौजूदा परिस्थिति में प्रजातांत्रिक-समाजवाद के उद्देश्य प्राप्त के लिये ठीक हो सके। क्योंकि इस देश में समाजवाद जनमत द्वारा ही कायम करना है। हमें जनता के

बहुमत को अपनी पार्टी के पक्ष में बनाना होगा। जिससे यह पार्टी जनता की पार्टी बन सके। इसके लिये यह बहुत आवश्यक है कि हमारे उद्देश्य और व्यवहार में हमेशा एक रूढ़ता रहे। सामंजस्य रहे। अगर हम रास्ता भटक गये तो काँग्रेस-जैसा भाग्य हमारा भी होगा। अतः अधिक-से-अधिक कड़ाई हमें उद्देश्य और कार्य की एकता के बारे में करनी है।

बड़े-बड़े उद्योग-धंधों का राष्ट्रीयकरण हो। भूमि का फिर से प्रबन्ध हो। अधिकतम और न्यूनतम वेतन के बीच की गहराई कम-से-कम हो। निर्वाह-वेतन आरम्भ किया जाय। निशुल्क शिक्षा और स्वास्थ्य गृहों का प्रचार हो—यह सब ठीक है पर है तो ये भी नारे ही। इन नारों को हमें अमली शकल देना है। कल्पना को व्यवहार में बदलना है, इसके लिये समाजवादी के व्यक्तिगत जीवन की उपेक्षा भी नहीं कर सकते। जब तक हमारा जीवन स्वयं 'समाजवाद' का जीता-जागता उदाहरण न बनेगा तब तक अन्य लोगों पर हमारा असर न पड़ेगा। सादगी और निष्ठा भारतीय जन-सेवक के आवश्यक गुण हैं इनके बिना इस देश में कार्य करना सरल नहीं। इसलिए हम जिस तरह के समाज की प्रतिष्ठा यहाँ करना चाहते हैं उसका सूक्ष्म रूप हमारे जीवन में देखें। क्योंकि 'समाजवाद' एक राजनीतिक नारा नहीं है। जीवन की एक कला है। एक पद्धति है जो मानव और विश्व को एक नयी दृष्टि से देखना चाहती है। उसे एक नया जामा पहनाना चाहती है।

एक बात और कहकर इस लेख को समाप्त किया जाता है। २
बात है 'सहिष्णुता' के विषय में। पार्टी की बढ़ती हुई ताकत और प्रभाव को देखकर स्थान-स्थान पर पुराने मठाधीश और गरीबधारा

बौखला उठेंगे। पद और सत्ता की रक्षा के लिये वे कुछ भी कर सकते हैं। अपशब्द, गालियाँ और मार खाने के दिन समाजवादियों के लिये दूर नहीं गये हैं। आज भी सभी प्रकार का अपमान किया जा सकता है। वामपक्षी लोगों को यह स्पष्ट मानकर चलना चाहिए कि काँग्रेस के विल्ले और खदर के कपड़ों के नीचे 'गाँधीजी' नहीं छिपे हैं। मानवता का भयकर से भयकर रूप भी काँग्रेसमैनों में मिल सकता है लेकिन समाजवादी विचारधारा के प्रचारकों के लिये यह कसौटी का क्षण है। 'गान्धी' की अहिंसा और उदारता को काँग्रेस ने वालाये तक रख दिया है। समाजवाद को सच्चे मानी में व्यक्तिगत जीवन के सभी अंगों में उस अहिंसा और उदारता का व्यवहार करना है। विरोधी और कट्टरस्थितियों के ताते सहो, गाली सहो और मार सहो पर चेहरे पर शिकन न पड़े। सब वादाओं के बीच से बढ़ना ही हमारे लिये गौरव की जीत है। अगर क्रोध का उत्तर क्रोध से दिया गया, ईंट का जवाब पत्थर से दिया गया तो 'समाजवाद' के लिये हितकर न होगा। समाजवाद का एक ही बात का ध्यान रखना है कि भय, आतंक और लाभ के शोले उसकी विचारधारा को न सुखा सकें। अपमान और दण्ड के कोड़े समाजवाद में उसकी निष्ठा को कम न कर सकें। इस बात में अगर अविचल-सेवक की तरह समाजवादी डटे रहें तो फिर दुनिया की कोई ताकत इस देश में समाजवाद के प्रचार को रोक नहीं सकती। विपक्षियों की गालियाँ, दण्ड सब उल्टा उन्हीं पर पड़ेगा। हमारी यही अन्तिम परीक्षा होगी और यदि इस परीक्षा में देश का समाजवाद सफलतापूर्वक पास हो गया तो उसे हिन्दुस्तान में केवल समाजवादी समाज के निर्माण में ही सहायता न मिलेगी वरन् दुनिया के सामने समाजवाद की एक ऐसी उन्नत, श्रेष्ठ और कल्याणमयी तस्वीर रखी जा सकेगी है जिसकी कल्पना आज हमारे दिमाग में है।

